अध्याय ८

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्

ब्रह्म की प्रथम अभिव्यक्ति: अन्न

केवलाघो भवति केवलादी

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः। सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं। केवलाघो भवति केवलादी ॥[१]

जो अन्न का दान नहीं करता उसे अन्न का प्राप्त होना तो व्यर्थ ही है। मैं आङ्गीरस ऋषि सत्य कह रहा हूँ, अन्यों को न खिलाने वाले को जो अन्न प्राप्त होता है वह न केवल व्यर्थ है, वह अन्न तो उसकी मृत्यु के समान ही है। उस अन्न से वह न देवों का पोषण करता है न अपने घर-द्वार पर आने वाले अतिथियों, अभ्यागतों एवं सखा-सम्बन्धियों का। इस प्रकार केवल स्वयं अपने लिये ही अन्न का भक्षण करने वाला अज्ञानी तो निश्चय ही केवल पाप का ही भोक्ता होता है।

ऋग्वेद के दशम मण्डल के दशम अध्याय में भिक्षुसूक्त की शिक्षा देते हुए ऋषि भिक्षु आङ्गीरस इस ऋचा का प्रतिपादन करते हैं। भिक्षु आङ्गीरस का श्रुतिवाक्य कि जो अन्यों के साथ बाँटे बिना अकेले स्वयं अन्न का उपभोग करता है वह अन्न का नहीं मात्र पाप का ही उपभोग करता है, केवलाघो भवति केवलादी, आर्ष साहित्य में सर्वत्र प्रतिपादित अन्न के अनुशासन की सम्भवतः स्पष्टतम अभिव्यक्ति है। स्वयं भोजन ग्रहण करने से पूर्व अन्यों की क्षुधा शान्त करना भारतीय परम्परा में अन्न का अनुल्लङ्घनीय अनुशासन माना गया है। इस अनुशासन का उल्लङ्घन

[१] ऋक्संहिता १०.११७.६, पृ.७३९।

Centre for Policy Studies www.cpsindia.org

करने वालों की गति के विषय में ऋषि भिक्षु आङ्गीरस का यह सङ्क्षिप्त पर निनादमान् श्रुतिवाक्य किसी प्रकार के संशय की कोई सम्भावना नहीं छोड़ता।

भिक्षुसूक्त की इस छठी ऋचा में अन्न के अनुल्लङ्घनीय अनुशासन का उल्लङ्घन करने वालों की गति का कदाचित् स्पष्टतम निर्देश हुआ है, परन्तु सूक्त की सभी नौ ऋचायें अन्न के अनुशासन का पालन न करने वालों को प्राप्त होने वाली अधम गति का ही निनाद करती हैं। सूक्त की प्रथम ऋचा में ऋषि कहते हैं कि देवों ने मानव को जो यह क्षुधा दी है वह तो मानव के लिये मृत्यु के समान ही है, यह क्षुधा अन्न के अभाव से ग्रस्त क्षुधार्त जनों के लिये मरण के समान तो है ही, यह उन अन्नसम्पन्न जनों के लिये भी मृत्युवत् है जो स्वयं भोजन करने से पूर्व अन्यों की क्षुधा शान्त करने का उपक्रम नहीं करते। ऋषि के शब्दों में – न वा उ देवाः क्षुधमिद्वधं ददुरुताशितमुप गच्छन्ति मृत्यवः।[२] अगली ऋचा में ऋषि कहते हैं कि जो अपने घर-द्वार पर आये अतिथि को अन्न आदि से सन्तुष्ट किये बिना लौटा देता है उसका मन कदापि शान्त नहीं हो पाता, वह कहीं भी आत्मिक सुख नहीं पा सकता, मर्डितारं न विन्दते।[३] एक अन्य ऋचा में ऋषि कहते हैं कि जो गृहस्थ अपने भृत्यों एवं सखा-सम्बन्धियों का भरण नहीं करता उसके भृत्यों एवं सखा-सम्बन्धियों को उसका गृह त्याग कर कहीं और शरण ले लेनी चाहिये। ऋषि का कहना है कि भृत्यों एवं सखा-सम्बन्धियों से परित्यक्त ऐसे गृहस्थ का निवासस्थान तो गृह ही नहीं रहता, क्योंकि जैसा कि श्रीसायणाचार्य इस ऋचा पर भाष्य करते हुए स्पष्ट करते हैं, गृह तो बन्धुओं एवं भृत्यों आदि से भरे-पूरे भवन को ही कहा जाता है, वही सदन होता है। सायणाचार्य के शब्दों में, सदनं हि बन्धुभिः परिवृतम्।[४]

अन्नदेवता का अनुशासन

यजुर्वेद की कृष्ण शाखा से सम्बन्धित तैत्तिरीय ब्राह्मण में अन्न के अभिमानी देवता, स्वयं अन्नदेवता, सृष्टि में अन्न के महत्त्व एवं अन्न ग्रहण करने से पूर्व अन्यों को भोजन करवाने के अनुल्लङ्घनीय अनुशासन का प्रतिपादन करते हैं। अन्नदेवता के अनुशासनवाक्य ऋग्वेद से श्रुत ऋषि भिक्षु आङ्गीरस के अनुशासन वाक्यों से ही निनादमान् हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण के द्वितीय अष्टक के आठवें प्रपाठक के आठवें अनुवाक में हम अन्नदेवता को इस प्रकार उद्घोष करते हुए सुनते हैं[५] –

---

[२] ऋक्संहिता १०.११७.१, पृ.७३७।
[३] ऋक्संहिता १०.११७.२, पृ.७३७।
[४] ऋक्संहिता १०.११७.४ पर श्रीसायणाचार्य भाष्य, पृ.७३९।
[५] तैत्तिरीयब्राह्मण २.८.८.१-८, पृ.८३०-४।

ब्रह्म की प्रथम अभिव्यक्ति: अन्न

अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य। पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाभिः।
यो मा ददाति स इदेव माऽऽवाः। अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि॥

मैं अन्नदेवता यज्ञ का प्रथम जनयिता हूँ, सर्वप्रथम यज्ञ मुझसे ही उत्पन्न होता है। मैं ही सृष्टि के पूर्वकाल में देवों के लिये अमृत का स्रोत बनता हूँ, देवों के लिये अमृत का सम्पादन मुझसे ही होता है।

जो मुझे दान करता है वास्तव में वही मुझे प्राप्त करता है। जो मुझे अन्यों को दिये बिना स्वयं मेरा उपभोग करता है उसका मैं विनाश कर देता हूँ। मैं अन्नदेवता अन्नदान न करने वालों को खा जाता हूँ।

पूर्वमग्नेरपि दहत्यन्नम्। यत्तौ हाऽऽसाते अहमुत्तरेषु। व्यात्तमस्य
पशवः सुजम्भम्। पश्यन्ति धीराः प्रचरन्ति पाकाः॥

जो अन्यों को दिये बिना स्वयं अन्न का उपभोग करता है उसका खाया हुआ अन्न जठराग्नि में पकने से पूर्व ही उस खाने वाले को जला डालता है। खाने से पूर्व अन्यों को खिलाने वाले दाता और अन्यों को खिलाये बिना स्वयं खाने वाले अदाता के मध्य पूर्ववर्ती, दाता ही श्रेष्ठ है। मैं उसी के पास निवास करता हूँ। अन्यों को खिलाये बिना स्वयं खाने वाला अदाता तो पशुवत् ही है। इस प्रकार के पशु समान मनुष्यों का भक्षण करने के लिये तीक्ष्ण दाँतों से युक्त मेरा मुख सर्वदा खुला रहता है। अन्यों को खिलाकर स्वयं खाने वाले बुद्धिमान् जन मेरी इस वृत्ति को जानते हैं, अन्य मूढ जन तो बिना किसी को खिलाये ही स्वयं खाने में रत रहते हैं।

जहाम्यन्यं न जहाम्यन्यम्। अहमन्नं वशमिच्चरामि।
समानमर्थं पर्येमि भुञ्जत्। को मामन्नं मनुष्यो दयेत॥

अन्यों को खिलाये बिना स्वयं भोजन ग्रहण करने वाले को मैं छोड़ जाता हूँ। अन्यों की क्षुधा शान्त करने के पश्चात् स्वयं भोजन करने वालों का साथ मैं कभी नहीं छोड़ता। मैं अन्नदेवता अपने ही अनुशासन के अनुरूप विचरण करता हूँ। जिनके लिये अन्न का दान एवं अन्न का भोग दोनों समानार्थक ही हैं, उनका मैं पोषण करता हूँ, उन्हें मैं विपुल मात्रा में प्राप्त होता हूँ। जो दान किये बिना मात्र अन्न का भोग ही करते हैं वे मुझे प्राप्त ही नहीं कर पाते। अदाताओं का परित्याग करने और दाताओं

को विपुल मात्रा में उपलब्ध होने के अपने इस अनुशासन से मुझे, मुझ अन्नदेवता को, कौन मनुष्य विचलित कर सकता है?

पराके अन्नं निहितं लोक एतत्। विश्वैर्देवैः पितृभिर्गुप्तमन्नम्।
यदद्यते लुप्यते यत्परोप्यते। शततमी सा तनूर्मे बभूव॥

इस लोक में देवों, भूतों, पितरों एवं मनुष्यों के लिये जो अन्नदान किया जाता है वह अन्न देने वाले के लिये सुरक्षित सञ्चित हो जाता है। विश्व के समस्त देवता और पितर उस सञ्चित अन्न की रक्षा करते हैं। ऐसा अन्न का पारलौकिक व्यवहार है। परन्तु इस लोक में तो अन्न की मात्रा अनन्त है। इस लोक में जितना अन्न अन्यों को दान कर दिया जाता है, जितने का उपभोग कर लिया जाता है और जितना नष्ट हो जाता है, वह सब मिलकर भी इस लोक में व्याप्त अन्न के परिमाण का शतांश भी नहीं हो पाता। मैं अन्नदेवता इस लोक में दान किये गये, उपभोग किए गये एवं व्यर्थ हुए अन्न की समग्र मात्रा से कहीं अधिक व्यापक हूँ। मेरा माहात्म्य इस सबसे परे है।

महान्तौ चरू सकृदुग्धेन पप्रौ। दिवञ्च पृश्निं पृथिवीं च साकम्।
तत्संपिबन्तो न मिनन्ति वेधसः। नैतद्भूयो भवति नो कनीयः॥

जिस प्रकार अच्छी दुधारू गाय बड़े-बड़े पात्रों को शीघ्र ही दूध से परिपूर्ण कर देती है, वैसे ही दान किया हुआ किञ्चित् मात्र अन्न पृथिवीलोक एवं दिव्यलोक दोनों को ही अन्न से परिपूर्ण कर देता है। देवों, भूतों, पितरों एवं मनुष्यों को तृप्त करने के पश्चात् स्वयं अन्न ग्रहण करने वाले मतिमान् जन इस प्रकार भोजन करते हुए न अन्न के प्रति कोई हिंसा करते हैं न अपने ही प्रति। क्योंकि अन्यों को तृप्त करने के पश्चात् खाया गया अन्न घटता नहीं, बढ़ता ही है और यह बढ़ा हुआ अन्न अन्यों को खिलाकर खाने वाले मतिमान् को चिरकाल तक प्राप्त होता रहता है। इतना ही नहीं, इस प्रकार अनुशासनपूर्वक खाया गया अन्न न कभी इतना अधिक होता है कि खाने वाले को अजीर्ण हो जाये और न कभी इतना अल्प कि खाने वाले की क्षुधा ही शान्त न हो। अन्यों को तृप्त कर स्वयं खाने के अनुशासन के अनुरूप ग्रहण किया गया अन्न तो सर्वदा सहज स्वास्थ्यकर ही होता है।

अन्नं प्राणमन्नमपानमाहुः। अन्नं मृत्युं तमु जीवातुमाहुः।
अन्नं ब्रह्माणो जरसं वदन्ति। अन्नमाहुः प्रजननं प्रजानाम्॥

अन्न को ही प्राणवायु एवं अपानवायु कहा गया है, अन्न के बल से ही इन दोनों का सञ्चरण हो पाता है। अन्न को ही मृत्यु एवं जीवन का कारक कहा गया है, अन्न से ही जीवन है और विकृत अन्न ही मृत्यु का कारण होता है। आयुर्वेद के ज्ञाता विद्वान् अन्न को ही जरा का कारण बताते हैं और अन्न को ही सन्तान की उत्पत्ति का कारण कहा जाता है। अतः अन्न ही प्राण है एवं अन्न ही अपान है, अन्न ही जीवन है एवं अन्न ही मृत्यु है और अन्न ही जरा है एवं अन्न ही जनक है।

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः। सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायम्। केवलाघो भवति केवलादी॥

जो अन्न का दान नहीं करता उसे अन्न का प्राप्त होना तो व्यर्थ ही है। मैं अन्नदेवता सत्य कह रहा हूँ, अन्यों को न खिलाने वाले को जो अन्न प्राप्त होता है वह न केवल व्यर्थ है, वह अन्न तो उसकी मृत्यु के समान ही है। उस अन्न से वह न देवों का पोषण करता है न अपने घर-द्वार पर आने वाले अतिथियों, अभ्यागतों एवं सखा-सम्बन्धियों का। इस प्रकार केवल स्वयं अपने ही लिये अन्न का भक्षण करने वाला अज्ञानी तो निश्चय ही केवल पाप का ही भोक्ता होता है।

अहं मेघस्तनयन्वर्षन्नस्मि। मामदन्त्यहमद्मचन्यान्।
अहꣳ सदमृतो भवामि। मदादित्या अधिसर्वे तपन्ति॥

आकाश में गरजते हुए पृथिवी को वर्षा से आप्लावित करने वाले यह मेघ मेरा ही रूप हैं। मुझ अन्नदेवता से ही इन मेघों की उत्पत्ति होती है। जो मुझ अन्नदेवता का दान कर भोजन ग्रहण करते हैं वे सुखपूर्वक मेरा उपभोग करते हैं, इनसे इतर जो बिना अन्यों को खिलाये स्वयं भोजन करते हैं उनको मैं खा जाता हूँ। अन्यों की क्षुधा शान्त कर स्वयं भोजन करने वालों के लिये तो मैं अमृत समान हो जाता हूँ। मैं अन्नदेवता हूँ, सृष्टि में उपस्थित विभिन्न महान् सूर्य मेरी ही अग्नि से तपते हैं, मुझसे ही वे प्रकाशित होते हैं।

वेदवाक्य अनुल्लङ्घनीय हैं

ऋषि भिक्षु आङ्गीरस एवं अन्नदेवता से श्रुत इन वेदवाक्यों का मनन करने से समझ आने लगता है कि सुविज्ञ पितामह भीष्म क्यों इतने आग्रह से यह सुनिश्चित करना चाहते हैं कि उनके पौत्रों से अन्नदान के धर्म की अवहेलना कदापि न होने पाये? क्यों श्रीकृष्ण 'ददस्वान्नं ददस्वान्नं

ददस्वान्नं युधिष्ठिर' का सङ्क्षिप्त परन्तु अत्यन्त सारगर्भित आदेश देते हैं? क्यों ऋषि अगस्त्य श्रीराम को अन्नदान के धर्म से च्युत राजा श्वेत की अधम गति की कथा इतने विस्तार से सुनाते हैं? क्यों कुरुक्षेत्र निवासी वह दिव्य नकुल युधिष्ठिर के भव्य अश्वमेध यज्ञ के समापन पर भरी सभा में खड़ा होकर युधिष्ठिर को स्मरण कराता है कि अपने वित्त के अनुरूप कोइ अन्न का चाहे कितना भी दान कर ले वह दान कभी पर्याप्त नहीं होता, अन्नदान की तो कोई पराकाष्ठा नहीं होती? क्यों मनु गृहस्थ के लिये स्वयं अन्न ग्रहण करने से पूर्व सृष्टि के अन्य सब घटकों के निमित्त अन्नदान करने के अनुशासन का इतना विस्तृत विधान करते हैं? और क्यों भारतीय परम्परा में गृहस्थों एवं राजाओं को अपने ऋषि-मुनियों एवं सभी गुरुजनों से सर्वदा यही शिक्षा मिलती रही है कि उनकी पहुँच के भीतर आने वाला कोई मानव अथवा अन्य कोई भी जीव कभी क्षुधा से पीड़ित नहीं रहना चाहिये?

वेद समस्त ज्ञान एवं विद्या के स्रोत हैं। आर्ष साहित्य में वर्णित महान् राजाओं एवं ऋषियों के जीवन वृत्तान्त वेदों की शिक्षा के दृष्टान्त मात्र हैं। भारतीय परम्परा के ऋषियों एवं मुनियों के उपदेश वेदों की शिक्षा की समसामयिक व्याख्या ही करते हैं। भारत के किसी महान् राजा, किसी उत्कट विद्वान्, किसी तपस्वी और कदाचित् किसी अवतार ने भी कभी वेदवाक्य से परे जाने का दम्भ नहीं किया। फिर 'केवलाघो भवति केवलादी' के श्रुतिवाक्य का प्रतिपादन तो भिक्षु आङ्गीरस ने ऋग्वेद में और स्वयं अन्नदेवता ने तैत्तिरीय ब्राह्मण में इतने आग्रह के साथ किया है। भारत के किसी अनुशासित राजा अथवा गृहस्थ को इस श्रुतिवाक्य की उपेक्षा करने का साहस भला कैसे हो सकता है? इसीलिये तो भारतीय परम्परा के सभी राजा, गृहस्थ और ऋषि-मुनि भी 'केवलादी' होने के, अन्यों को खिलाये बिना केवल स्वयं खाने के पाप से बचने के प्रति इतने सचेत दिखायी देते हैं। जिस परम्परा में ऋषि भिक्षु आङ्गीरस और अन्नदेवता के प्रामाणिक उद्घोष को सुना गया हो उस परम्परा के वाहक वंशजों को तो स्वयं अन्न ग्रहण करने से पूर्व अन्यों की क्षुधा शान्त करने के अनुशासन से किञ्चित् भी विचलित होना अकल्पनीय पाप-सा ही लगता रहा होगा।

अन्न एवं ब्रह्मविद्या: तैत्तिरीयोपनिषद्

अन्न एवं अन्नदान के माहात्म्य का निर्देश वेदों में सभी स्थानों पर, संहिता, ब्राह्मण एवं उपनिषद् संज्ञक सभी अंशों में, पुनः पुनः होता है। परन्तु कृष्ण यजुर्वेद से सम्बन्धित तैत्तिरीयोपनिषद् में सृष्टि में अन्न के मूलभूत स्थान और सृष्टि के मूलतत्व ब्रह्म का दर्शन पाने के मानवीय प्रयासों में अन्न की विशिष्ट भूमिका का विशेष विस्तार से उपदेश किया गया है।

ब्रह्म की प्रथम अभिव्यक्ति: अन्न

वेदों के शीर्षस्थ अंश के रूप में सङ्कलित उपनिषद् एकमात्र ब्रह्मविद्या का ही निरूपण करते हैं। उपनिषदों का कथ्य सृष्टि का मूलतत्व वह अकथनीय ब्रह्म है जो प्रत्येक कल्प के प्रारम्भ पर अपने आप को इस व्यक्त सृष्टि के अनन्त रूपों में अभिव्यक्त करता है और जो कल्प के अन्त पर इन सब रूपों को, इस सम्पूर्ण सृष्टि को, अपने में ही लीन कर लेता है। और पुनः, एक और कल्प के प्रारम्भ पर, ब्रह्म से व्यक्त सृष्टि के विभिन्न रूपों के सर्जन एवं ब्रह्म में ही उनके विलय का एक और आवर्तन प्रारम्भ हो जाता है। सर्जन एवं प्रलय का यह क्रम एक सुनिश्चित कालक्रम के अनुसार निरन्तर चलता रहता है। सृष्टि का यह सतत आवर्तन-पुनरावर्तन ब्रह्म की ही लीला है। उस अनादि-अनन्त ब्रह्म के सङ्कुचन एवं व्यास से ही काल का यह अनादि-अनन्त प्रवाह बना रहता है। सृष्टि एवं काल का एकमेव कर्ता वह अकथनीय-अचिन्तनीय ब्रह्म ही उपनिषदों के चिन्तन-मनन एवं उपदेश का विषय है।

उपनिषद् ब्रह्म से इस व्यक्त सृष्टि के सर्जन और ब्रह्म में उसके विलय की गाथा मात्र नहीं सुनाते। न ही उपनिषदों के द्रष्टा ऋषियों का उद्देश्य ब्रह्म की लीलास्वरूप इस व्यक्त सृष्टि, उस में मानव के स्थान और ब्रह्म को पाने-समझने के मानवीय प्रयासों सम्बन्धी मूल भारतीय अवधारणाओं का प्रतिपादन मात्र करना ही है। सर्जन एवं प्रलय के अनादि-अनन्त आवर्तन की गाथा तो उपनिषदों में कही ही गयी है, और इस आवर्तन के एकमेव कर्ता ब्रह्म के ज्ञान सम्बन्धी मूल भारतीय अवधारणाओं का प्रतिपादन भी उपनिषदों में हुआ ही है। परन्तु उपनिषदों का उद्देश्य तो ब्रह्मज्ञान का वर्णन-प्रतिपादन करना नहीं अपितु जिज्ञासु को सृष्टि के उस मूलतत्व ब्रह्म का साक्षात्कार करने के, स्वयं उस ब्रह्म के प्रत्यक्ष दर्शन करने के, योग्य बनाना है। उपनिषदों के द्रष्टा ऋषि जिज्ञासु को ब्रह्म के विषय में बताने के लिये नहीं अपितु ब्रह्म का जो प्रत्यक्ष दर्शन उन्हें प्राप्त हुआ है, जिस दर्शन को पाकर वे द्रष्टा हुए हैं, वही प्रत्यक्ष दर्शन जिज्ञासु को करवाने के लिये उत्सुक हैं।

भारतीय बोध में सृष्टि के मूलतत्व के प्रत्यक्ष दर्शन को ही ज्ञान की संज्ञा दी गयी है और ऐसे ज्ञान की प्राप्ति ही सब बन्धनों से मुक्ति की वह स्थिति है जिसकी ईषना सब भारतीयों में सर्वदा बनी रहती है। भारत में तत्वज्ञान विषयक चिन्तन-मनन का ध्येय मानव को प्रत्यक्ष दर्शन, सर्वाङ्गीण ज्ञान एवं मोक्ष की प्राप्ति के लिये उपयुक्त मार्ग का निर्देश करना ही रहा है। इसीलिये तत्वज्ञान विषयक चिन्तन-मनन के शास्त्र को दर्शनशास्त्र कहा जाता है। और, उपनिषद् तो जिज्ञासुओं के लिये दर्शन के मार्ग को प्रशस्त करने के भारतीय द्रष्टाओं के प्रयासों की पराकाष्ठा ही हैं।

उपनिषदों में तैत्तिरीयोपनिषद् का विशेष स्थान है। तैत्तिरीयोपनिषद् के द्रष्टा ऋषि तो

जिज्ञासु का मानो हाथ पकड़कर उसे ब्रह्मविद्या की जटिलताओं में से क्रमशः निकालते हुए दर्शन, ज्ञान एवं मोक्ष की ओर ले चलते हैं। इस सन्दर्भ में यह तथ्य निश्चय ही विलक्षण है कि तैत्तिरीयोपनिषद् के द्रष्टा का अनुसरण करते हुए ब्रह्मज्ञान की ओर अग्रसर जिज्ञासु के मार्ग में अन्न एवं अन्न की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ पुनः पुनः उपस्थित होती रहती हैं। उपनिषद् में निर्दिष्ट मार्ग के अन्त पर हम द्रष्टा को अन्न के अतुलनीय माहात्म्य का अत्यन्त श्रद्धामय उपदेश देते हुए सुनते हैं, और उसके उपरान्त जिज्ञासु अन्न के साथ एकात्मता का अनुभव कर आनन्दविभोर हो गा उठता है – मैं ही अन्न हूँ, मैं अन्न ही हूँ, मैं अन्न ही हूँ, अहमन्नमहन्नमहन्नम्।[६]

तैत्तिरीयोपनिषद् के द्रष्टा के लिये अन्न ब्रह्मज्ञान का द्वार है और इस द्वार के भीतर जाकर ब्रह्मज्ञान के गर्भ के समक्ष पहुँचने पर वहाँ भी अन्न ही प्रतिष्ठापित हुआ दिखायी देता है। ब्रह्मविद्या के इस अत्यन्त सम्मानित श्रुतिग्रन्थ में अन्न की ऐसी प्रमुखता निश्चय ही भारतीय बोध में अन्न के विशेष महत्त्व की द्योतक है। भारतीय संस्कृति में अन्न के महत्त्व और अन्नबाहुल्य एवं अन्नदान के अनुल्लङ्घनीय अनुशासन का इससे बड़ा प्रमाण भला और क्या हो सकता है कि तैत्तिरीयोपनिषद् इस अनुशासन को ब्रह्मविद्या के जिज्ञासु के लिये अपरिहार्य मानता है और अन्न को ब्रह्मज्ञान के द्वार एवं मर्म के रूप में प्रतिष्ठित करता है?

ब्रह्मविद्या का उपक्रमः शीक्षावल्ली

तैत्तिरीयोपनिषद् कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा का अङ्ग है। इस शाखा की एक संहिता है, एक ब्राह्मण और एक आरण्यक। अन्नदेवता से श्रुत अन्नसूक्त इसी ब्राह्मण में आता है। तैत्तिरीयारण्यक के दस प्रपाठक हैं। इनमें से सप्तम, अष्टम एवं नवम प्रपाठक तैत्तिरीयोपनिषद् कहलाते हैं। आरण्यक के सप्तम प्रपाठक को तैत्तिरीयोपनिषद् की शीक्षावल्ली, अष्टम प्रपाठक को उपनिषद् की ब्रह्मानन्दवल्ली और नवम प्रपाठक को भृगुवल्ली कहा जाता है। आरण्यक का दशम प्रपाठक महानारायणोपनिषद् नामक स्वतन्त्र उपनिषद् है।

शीक्षावल्ली में ब्रह्मज्ञान के हेतु सम्यक् श्रवण, मनन एवं ध्यान और सम्यक् आचार का उपदेश किया गया है। शीक्षावल्ली का प्रयोजन जिज्ञासु में ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के अनुकूल बौद्धिक एवं मानसिक वृत्ति को जागृत करना है। इस प्रकार शीक्षावल्ली ब्रह्मविद्या के उपक्रमस्वरूप है।

---

[६] तैत्तिरीयोपनिषद् ३.१०, पृ.२४५।

Centre for Policy Studies www.cpsindia.org

शान्तिपाठ

सभी सम्यक् व्यवस्थित ग्रन्थों का प्रारम्भ शान्तिपाठ से हुआ करता है। शान्तिपाठ में ग्रन्थ के प्रयोजन की सिद्धि में आने वाले विघ्नों की शान्ति के लिये सृष्टि के विभिन्न भावों के अभिमानी देवताओं का अभिवादन-आह्वान किया जाता है। तैत्तिरीयोपनिषद् का प्रारम्भ शीक्षावल्ली के शान्तिपाठ से होता है। क्योंकि शीक्षावल्ली का अधिकार ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के उपक्रमस्वरूप पठन-पाठन आदि है, कदाचित् इसीलिये शीक्षावल्ली के शान्तिपाठ में आचार्य एवं शिष्य दोनों के सुख एवं सामर्थ्य की एक साथ रक्षा की कामना की गयी है। वस्तुतः ब्रह्मज्ञान के मार्ग पर चलते हुए द्रष्टा आचार्य एवं दर्शनाभिलाषी शिष्य एक ही हो जाते हैं। आचार्य एवं शिष्य के अपने प्रयत्न में एक ही होने का यह भाव शीक्षावल्ली के शान्तिपाठ में ही नहीं अपितु सम्पूर्ण उपनिषद् में स्थान-स्थान पर उभरता रहता है।

शान्तिपाठ का आरम्भ जिज्ञासु मित्र, वरुण, अर्यमा, इन्द्र, बृहस्पति एवं विस्तीर्ण पादविक्षेप वाले उरुक्रम विष्णु के प्रति इस प्रार्थना से करता है कि वे सब विश्व पर प्रसन्न हों और हम सब के लिये सुखावह बनें। मित्र प्राणवायु के, वरुण अपान के, अर्यमा दृष्टि के, इन्द्र बल के, बृहस्पति वाणी एवं बुद्धि के और उरुक्रम विष्णु पाद के अभिमानी देवता हैं। इन सब देवों के सुखावह होने और उन द्वारा संरक्षित विभिन्न वृत्तियों के स्वस्थ होने पर ही ज्ञान का श्रवण, धारण एवं अभ्यास निर्विघ्नता से हो सकता है।

आगे जिज्ञासु अपने परम ध्येय ब्रह्म को नमस्कार करता है और वायु को प्रत्यक्ष ब्रह्म और इसीलिये ऋत एवं सत्य का ही स्वरूप मानने का सङ्कल्प करते हुए वायु के प्रति नमन करता है। अन्ततः वह वायु से ही प्रार्थना करता है कि ब्रह्म, ऋत एवं सत्य स्वरूप वह वायु उसकी और आचार्य की रक्षा करे। वह वायु उस जिज्ञासु शिष्य की रक्षा करे। वह वायु आचार्य की रक्षा करे। और, विद्या की प्राप्ति में आने वाले आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक त्रिविध विघ्न शान्त हों। तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।[७]

शीक्षा

शान्तिपाठ के अनन्तर उपनिषद् में 'शीक्षा' की व्याख्या की गयी है। शीक्षा 'शिक्षा' का ही वैदिक रूप है। उपनिषद् के अत्यन्त श्रद्धेय भाष्यकार श्रीआदिशङ्कराचार्य के अनुसार जिससे वर्णादि का उच्चारण सीखा जाये उसे 'शिक्षा' कहते हैं अथवा शब्द का ठीक-ठीक बोध करवाने

[७] तैत्तिरीयोपनिषद् १.१, पृ.२१।

Centre for Policy Studies www.cpsindia.org

के लिये जिन वर्णादि का उपदेश किया जाता है वही 'शिक्षा' हैं। शिक्षा की व्याख्या सम्बन्धी इस अत्यन्त सङ्क्षिप्त अनुवाक में शिक्षा के मूल अङ्गों वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम और सन्तान की ओर इङ्गित मात्र करके व्याख्या का उपसंहार कर दिया गया है। शीक्षावल्ली के यह द्वितीय अनुवाक मात्र इतना है – शीक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः स्वरः। मात्रा बलम्। साम सन्तानः। इत्युक्तः शीक्षाध्यायः।[८]

उपनिषद् का 'शिक्षा' सम्बन्धी यह उपदेश पढ़ाने की विधा की पराकाष्ठा ही है। यहाँ आचार्य मानो उपदेश नहीं दे रहे अपितु शिष्य को जो पहले से ही ज्ञात है उसे ही स्मरण करने के लिये आमन्त्रित कर रहे हैं, अथवा 'शिक्षा' के सम्यक् ज्ञान के मार्ग का मानो वे मात्र दिशा निर्देश ही कर रहे हैं।

उपरोक्त में अकारादि वर्ण हैं, उदात्तादि स्वर हैं, ह्रस्वादि मात्राएँ हैं, वर्णों के उच्चारण में जो प्रयत्न किया जाता है वह बल है, वर्णों का नियमानुसार सम वृत्ति से उच्चारण करना साम है और दो वर्णों की सन्धि से होने वाला रूपान्तर सन्तान है। सन्तान को संहिता भी कहा जाता है।

संहितोपासना

तृतीय अनुवाक के प्रारम्भ पर जिज्ञासु शिष्य एकदा पुनः आचार्य एवं अपने लिये संयुक्त प्रार्थना करते हुए कामना करता है कि ब्रह्म के सामीप्य से जिस यश एवं ब्रह्मतेज की प्राप्ति होती है, वह उसे और आचार्य को एक साथ ही प्राप्त हो।

इस प्रार्थना के उपरान्त आचार्य शिष्य को सृष्टि के विभिन्न तत्वों और उनके परस्पर संयोग से उत्पन्न होने वाले विभिन्न रूपों को 'शिक्षा' में उपदिष्ट वर्णों और उनकी परस्पर सन्धि के समान ही देखते हुए सृष्टि की उपासना करने का उपदेश देते हैं। सृष्टि के मूलतत्वों के परस्पर संयोग को यहाँ महासंहिता कहा गया है और इस रूप में सृष्टि की उपासना को श्रीशङ्कराचार्य संहितोपनिषद् अथवा संहितोपासना की संज्ञा देते हैं।

संहितोपासना की व्याख्या करते हुए आचार्य शिष्य को बताते हैं कि कैसे पृथिवी एवं द्युलोक की सन्धि आकाश में होती है और वायु इस सन्धि का माध्यम, सन्धान बनता है। यह लोक सम्बन्धी महासंहिता है। पुनः, अग्नि और आदित्य की सन्धि जल में होती है और आकाशीय विद्युत् इस सन्धि में सन्धान बनती है। यह ज्योतियों सम्बन्धी महासंहिता है। पुनः, आचार्य एवं अन्तेवासी शिष्य की सन्धि विद्या में होती हैं और प्रवचन इस सन्धि में सन्धान होता है। यह

[८] तैत्तिरीयोपनिषद् १.२, पृ.२५।

Centre for Policy Studies www.cpsindia.org

विद्या सम्बन्धी महासंहिता है। पुनः, माता और पिता की सन्धि प्रजा में होती है और प्रजनन इसमें सन्धान होता है। यह प्रजा विषयक महासंहिता है। अन्ततः आचार्य बताते हैं कि नीचे के हनु और ऊपर के हनु की सन्धि वाणी में होती है और जिह्वा इस सन्धि में सन्धान बनती है। यह आत्म सम्बन्धी महासंहिता है।

इन पाँच महासंहिताओं का वर्णन करते हुए आचार्य शिष्य को समझाते हैं कि इन संहिताओं में प्रथम तत्व शिक्षा में सीखी गयी संहिता के पूर्वरूप अथवा प्रथम वर्ण के ही समान है, दूसरा तत्व उत्तररूप अथवा द्वितीय वर्ण के समान है और तृतीय तत्व जिसमें प्रथम दो तत्वों की सन्धि होना कहा गया है, वह दो वर्णों की सन्धि से बनने वाले रूपान्तरित वर्ण के समान है। जिस चौथे तत्व का इन महासंहिताओं में उल्लेख हुआ है, वह शिक्षा में वर्णों की सन्धि के माध्यम सन्धान के समान है।

इस प्रकार पाँच महासंहिताओं की व्याख्या करने के पश्चात् आचार्य कहते है कि जो जिज्ञासु इन महासंहिताओं को जानकर इस रूप में सृष्टि की उपासना करता है वह प्रजा, पशु, अन्न एवं ब्रह्मतेज से सम्पन्न हो अन्ततः स्वर्गलोक को प्राप्त होता है। आचार्य का आशीर्वाद है –इतीमा महासꣳहिता य एवमेता महासꣳहिता व्याख्याता वेद। संधीयते प्रजया पशुभिः। ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन सुवर्गेण लोकेन।[९]

आवहन्ती होम

शीक्षावल्ली के चतुर्थ अनुवाक का आरम्भ प्रणवस्तुति से होता है। ओङ्कार शब्द भारतीय बोध में सम्पूर्ण सत्ता का स्रोत और इस प्रकार स्वयं ब्रह्म का ही द्योतक माना गया है। ओङ्काररूपी ब्रह्म का आह्वान करते हुए जिज्ञासु इस अनुवाक में प्रार्थना करता है कि –

''ॐ! जो वेदवाक्यों में ऋषभ-सा है, जो सम्पूर्ण वाणी में व्याप्त होते हुए विश्वरूप ही है, जो वेदरूपी अमृत के सारवत् आविर्भूत हुआ है और जो सभी कामनाओं के स्वामी इन्द्र के समान है, ऐसा वह ओङ्कार मुझे मेधा से सम्पन्न करे। हे देव! मैं ब्रह्मज्ञान से प्रवाहित होने वाले अमृत को धारण करूँ। मेरा शरीर विचक्षण बने। मेरी जिह्वा मधुमती हो। कानों से मैं भली-भाँति श्रवण करूँ। ॐ! तुम स्वयं ब्रह्म के कोष हो, तुझमें ही ब्रह्म की उपलब्धि होती है, परन्तु लौकिक बुद्धि से ढके रहने के कारण तुम्हारा यह स्वरूप आँखों से ओझल रहता है। ब्रह्म के कोष ऐसे ॐ! तुम मेरी श्रवण की हुई विद्या की रक्षा करो।''

---

[९] तैत्तिरीयोपनिषद् १.३, पृ.२८।

Centre for Policy Studies www.cpsindia.org

शरीर के सौष्ठव, इन्द्रियों की कुशाग्रता और बुद्धि की निर्मलता के हेतु यह प्रार्थना ब्रह्मज्ञान के जिज्ञासु के करने योग्य ही है, इनके बिना ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति सम्भव नहीं। समुचित मेधा की कामना से की गयी इस प्रार्थना के उपरान्त उपनिषद् लोक में यश एवं समृद्धि की प्राप्ति की कामना से किये जाने वाले 'आवहन्ती होम' की शिक्षा देता है। ब्रह्मचारी जिज्ञासु के लिये तो सब प्रकार की लौकिक विभूति त्याज्य ही है। अतः भौतिक सम्पदा एवं यश के हेतु यह होम सम्भवतः आचार्य के निमित्त ही किया जाता है, अथवा यह होम उस समय के निमित्त है जब ब्रह्मचारी जिज्ञासु ब्रह्मविद्या का अधिकारी हो स्वयं आचार्यपद को प्राप्त हो जायेगा। आवहन्ती होम का सम्पादन करते हुए मुमुक्षु प्रार्थना करता है –

''ॐ! मेरी श्रवण की हुई विद्या का संरक्षण करने के अनन्तर तू मेरे पास ऐसी श्री लेकर आ जो मुझे तुरन्त वस्त्र, गो, लोमश पशु एवं अन्नपान की सम्पदा से समृद्ध कर दे, और जो इस समृद्धि को सर्वदा बनाये रखे एवं सतत इसका विस्तार करती जाये। स्वाहा!

''ब्रह्मचारी मेरे पास आयें। स्वाहा! ब्रह्मचारी मेरे प्रति निष्कपट हों। स्वाहा! मेरे पास आने वाले ब्रह्मचारी प्रमा को धारण करें। स्वाहा! वे इन्द्रियनिग्रह करते हुए दम का पालन करें। स्वाहा! वे ब्रह्मचारी मनोनिग्रह करते हुए शम का पालन करें। स्वाहा!

''मैं जन में यश का भागी होऊँ। स्वाहा! मैं अत्यन्त प्रशंसनीय एवं धनवान् होऊँ। स्वाहा! हे भगवन्! ब्रह्म के कोषभूत तुझ में मैं प्रवेश कर जाऊँ । स्वाहा! हे भगवन्! तुम मुझ में प्रवेश कर जाओ। स्वाहा! सहस्रशाखाओं से युक्त हे भगवन्! मैं तुझमें अपने समस्त पापों का मार्जन करूँ। स्वाहा!

''हे सर्वस्व के विधाता ! जिस प्रकार जल नीचे की ओर बहता चला जाता है और जिस प्रकार मास संवत्सर में लीन होते चले जाते हैं, वैसे ही ब्रह्मचारी सब दिशाओं से मेरी ओर आते चले जायें। स्वाहा!

''तू जो सब के सब प्रकार के श्रम की निवृत्ति का स्थान है, वह तू मेरे प्रति अपने को प्रकाशित कर। तू मुझे प्राप्त हो।''

व्याहृत्योपासना

चतुर्थ अनुवाक में मेधा एवं श्री की कामना से की जाने वाली भावप्रवण उपासना एवं होम की शिक्षा देने के अनन्तर उपनिषद् के द्रष्टा आचार्य जिज्ञासु को एकदा पुनः सृष्टि के मूलभूत तत्वों पर ध्यान केन्द्रित कर सृष्टि के मूलस्रोत ब्रह्म की उपासना करने का उपदेश देते हैं। इससे पूर्व, तृतीय अनुवाक में 'शीक्षा' में होने वाली वर्णों की संहिता के अनुरूप ही सृष्टि के मूलभूत

Centre for Policy Studies www.cpsindia.org

तत्वों की संहिता को देखते हुए 'संहितोपासना' करने का उपदेश दिया गया है। अब इस पाँचवें अनुवाक में सृष्टि के मूलभूत घटकों को व्याहृति नामक लोकों की शृङ्खला के रूप में देखते हुए व्याहृतिरूपी ब्रह्म की उपासना प्रारम्भ की जाती है।

भूः, भुवः एवं सुवः नामक तीन व्याहृतियाँ परम्परा से ज्ञात हैं। उपनिषद् के द्रष्टा आचार्य जिज्ञासु को इन तीन का स्मरण करवाने के उपरान्त कहते हैं कि महाचमस के पुत्र ऋषि माहाचमस्य ने महः नामक एक चौथी व्याहृति का उपदेश दिया है। वह महः ब्रह्म ही है। वह सृष्टि की आत्मा है और अन्य सब देवता उसके अवयव हैं।

इस प्रकार चार व्याहृतियों का परिचय देकर द्रष्टा आचार्य सृष्टि के मूलभूत घटकों को एक सुनिश्चित क्रम से इन चार के साथ जोड़ते हुए जिज्ञासु को व्याहृत्योपासना की शिक्षा देते हैं। द्रष्टा कहते हैं कि सर्वप्रथम भूः इहलोक है, भुवः अन्तरिक्षलोक है, सुवः स्वर्गलोक है और महः आदित्य है – आदित्य से ही समस्त लोक वृद्धि पाते हैं। पुनः द्रष्टा कहते हैं कि भूः अग्नि है, भुवः वायु है, सुवः आदित्य है और महः चन्द्रमा है – चन्द्रमा से ही सभी ज्योतिमान् नक्षत्रादि ज्योति पाते हैं। पुनश्च, भूः ऋक् है, भुवः साम है, सुवः यजुः है और महः ब्रह्म है – ब्रह्म से ही समस्त वेदों का आविर्भाव होता है। अन्ततः द्रष्टा कहते हैं कि भूः प्राणवायु है, भुवः अपानवायु है, सुवः व्यानवायु है और महः अन्न है –अन्न से ही समस्त प्रकार की प्राणवायु सञ्चारित होती है।

इस प्रकार चारों व्याहृतियाँ चार-चार प्रकार की होती हैं। इन चतुर्धा चार व्याहृतियों के रूप में ब्रह्म की उपासना की शिक्षा देने के पश्चात् द्रष्टा आचार्य जिज्ञासु शिष्य को आशीर्वाद देते हुए कहते हैं कि जो इन व्याहृतियों को जानता है वह ब्रह्म को जानता है, सम्पूर्ण देवगण ऐसे ज्ञाता जिज्ञासु के लिये उपहार लेकर प्रस्तुत होते हैं।

अन्तःस्थित ब्रह्म की उपासना

छठे अनुवाक में पिछले अनुवाक में आरम्भ की गयी ध्यानयुक्त उपासना को आगे बढ़ाते हुए आचार्य अब जिज्ञासु को अपने भीतर झाँकने, बाह्य लोकों में अभिव्यक्त ब्रह्म से दृष्टि हटाकर अपने भीतर स्थित ब्रह्म को देखने का उपदेश देते हैं। अन्तःस्थित ब्रह्म के उपलब्धि स्थान का परिचय देते हुए आचार्य कहते हैं –

''हृदय के मध्य यह जो आकाश है, दिक् सम्बन्धी महाभूत का जो अंश वहाँ विद्यमान् है, वही इस सर्वस्व को पूरित किये रहने वाले 'पुरुष' का निवासस्थान है। हृदयाकाश में स्थित वह पुरुष मनोमय है, केवल मनन से ही उसे जाना जाता है और उसके वहाँ रहने से ही मनन सम्भव होता है। वह पुरुष अमृतमय है – वह जीवन-मरण से परे है, और वह हिरण्मय है, ज्योतिस्वरूप है।''

अन्तःस्थित ब्रह्म के उपलब्धि स्थान हृदयाकाश का वर्णन करने के पश्चात् आचार्य जिज्ञासु को एक ऐसी गहन उपासना की शिक्षा देते हैं, जो अन्तर्मन के इस हृदयाकाश से आरम्भ हो सारी सृष्टि को ही जिज्ञासु के ध्यान में समेटती चली जाती है। आचार्य कहते हैं –

''तालु के मध्य यह स्तन के समान लटकती हुई लम्बिका है। यहाँ से प्रारम्भ हो शीर्षप्रदेश में जहाँ केश विभक्त होते हैं वहाँ से यह इन्द्रयोनि कपाल को विदीर्ण करके निकलती है। यही ब्रह्म की प्राप्ति का मार्ग है। हृदयाकाश में स्थित पुरुष इस मार्ग से निकलकर 'भूः' व्याहृति के रूप में व्याप्त अग्नि में समा जाता है, इसी प्रकार वह पुरुष 'भुवः' व्याहृति के रूप में व्याप्त वायु में समा जाता है, पुनः वह 'सुवः' व्याहृति के रूप में व्याप्त आदित्य में समा जाता है और अन्ततः वह 'महः' व्याहृति के रूप में व्याप्त ब्रह्म में समा जाता है।

''इस प्रकार हृदयाकाश में विद्यमान यह पुरुष ब्रह्मभूत हो स्वाराज्य को प्राप्त कर लेता है, वह स्वयं अपना स्वामी हो जाता है। स्वाराज्य को प्राप्त हुआ वह ब्रह्मभूत पुरुष मन का, वाणी का, चक्षु का, श्रोत्र का और समस्त विज्ञान का स्वामी हो जाता है। अन्ततः इन सब से भी परे पहुँचकर वह स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है, उस ब्रह्म में समा जाता है जिसका आकाश ही शरीर है, सत्य ही जिसकी आत्मा है, जिससे समस्त जीवसृष्टि में प्राणों का सञ्चरण होता है, जो मन को आनन्द से परिपूर्ण करता है और जो शान्तिसम्पन्न एवं अमृतस्वरूप है।''

इस प्रकार हृदयाकाश से आरम्भ हो सारी सृष्टि तक व्याप्त होने वाली इस ध्यान-उपासना का निर्देश करने के पश्चात् आचार्य जिज्ञासु से आग्रह करते हैं कि –

''हे प्राचीनयोग्य जिज्ञासु, तुम जो अनेक जीवनों के तप के उपरान्त ब्रह्मज्ञान की जिज्ञासा के योग्य हुए हो, ऐसे तुम इस प्रकार उस ब्रह्म की उपासना करो।''

पाङ्क्तोपासना

शीक्षावल्ली के सातवें अनुवाक में द्रष्टा आचार्य जिज्ञासु शिष्य को एकदा पुनः सृष्टि के मूल घटकों पर ध्यान केन्द्रित करते हुए सृष्टि के एकमेव स्रोत ब्रह्म की उपासना का निर्देश करते हैं। पहले, तृतीय अनुवाक में 'शीक्षा' की संहिताओं के रूप में और पाँचवें अनुवाक में व्याहृतियों के रूप में सृष्टि के विभिन्न घटकों को देखते हुए ब्रह्मोपासना करने की शिक्षा दी गयी है। अब इस सातवें अनुवाक में आचार्य सृष्टि के मूल घटकों को पाँच-पाँच की छः शृङ्खलाओं के रूप में प्रस्तुत करते हैं। पाँच-पाँच घटकों की इन शृङ्खलाओं को 'पाङ्क्तों' की संज्ञा दी गयी है।

पाङ्क्तों के रूप में सृष्टि का दिग्दर्शन करवाते हुए आचार्य सर्वप्रथम पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, दिशाओं एवं अवान्तर दिशाओं के पाङ्क्त की ओर इङ्गित करते हैं। यह 'लोकपाङ्क्त' है।

Centre for Policy Studies www.cpsindia.org

आगे आचार्य अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा एवं नक्षत्रों के 'देवपाङ्क' का निर्देश करते हैं। और तदुपरान्त वे अप्, औषधि, वनस्पतियों, आकाश एवं आत्मा के 'भूतपाङ्क' का वर्णन करते हैं। श्रीआदिशङ्कराचार्य के अनुसार इस भूतपाङ्क में आत्मा का अर्थ विराट् से है और विराट् ब्रह्म के शरीररूपी समस्त भौतिक सृष्टि को कहा जाता है।

लोकपाङ्क, देवपाङ्क एवं भूतपाङ्क, ये तीन आधिभौतिक पाङ्क हैं – जिज्ञासु अपने से बाह्य सृष्टि पर ध्यान केन्द्रित करते हुए सृष्टि को इन तीन पाङ्कों के रूप में देखता है। अब आगे द्रष्टा आचार्य आध्यात्मिक पाङ्कों का वर्णन करते हैं – अपने भीतर ध्यान केन्द्रित करने पर सृष्टि इन आध्यात्मिक पाङ्कों के रूप में दिखलायी देती है।

आध्यात्मिक पाङ्कों का निर्देश करते हुए आचार्य सर्वप्रथम प्राण, व्यान, अपान, उदान एवं समान वायुओं के पाङ्क की ओर इङ्गित करते हैं। जीवशरीर इन पाँच वायुओं से ही अपने विभिन्न कार्यों का सम्पादन करता है। आगे आचार्य चक्षु, श्रोत्र, मन, वाक् और त्वक् के 'इन्द्रियपाङ्क' का निर्देश करते हैं। इन इन्द्रियों से ही जीव सब प्रकार का ज्ञान ग्रहण करता है। अन्ततः आचार्य चर्म, मांस, स्नायु, अस्थि एवं मज्जा के 'धातुपाङ्क' का वर्णन करते हैं। इन धातुओं से ही जीवशरीर का निर्माण होता है।

इस प्रकार तीन आधिभौतिक एवं तीन आध्यात्मिक पाङ्कों का विधान करने के उपरान्त आचार्य कहते हैं कि यह सब, यह समस्त सृष्टि, पाङ्क ही हैं। जिज्ञासु पाङ्क से ही पाङ्क को परिपूर्ण करता है, आध्यात्मिक पाङ्कों से आधिभौतिक पाङ्कों को परिपूर्ण करते हुए अपने आप का ऐसे विस्तार करता है कि वह समस्त सृष्टि के साथ एकरूप ही हो जाता है। इस प्रकार पाङ्कों के रूप में ब्रह्म की उपासना करते हुए, पाङ्कों को जानते हुए, जिज्ञासु प्रजापति के साथ एकात्म हो जाता है।

ओङ्कारोपासना

पूर्ववर्ती अनुवाकों में द्रष्टा आचार्य ने जिज्ञासु को बाह्य एवं आन्तरिक जगत् को, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक सृष्टि को, सृष्टि के मूलभूत घटकों की संहिताओं, व्याहृतियों एवं पाङ्कों की क्रमबद्ध शृङ्खलाओं के रूप में देखते हुए ब्रह्म की ध्यान-उपासना करने का उपदेश किया है। अब आठवें अनुवाक में आचार्य जिज्ञासु को प्रणव का अवलम्बन ले सृष्टि की सम्पूर्णता पर ध्यान केन्द्रित करते हुए ब्रह्म की सर्वाङ्गीण उपासना करने की शिक्षा देते हैं। ओङ्कारोपासना का विधान करते हुए आचार्य कहते हैं –

''ॐ ही ब्रह्म है। यह जो सब है वह ॐ ही है। ॐ ही अनुकृतिवाचक शब्द के रूप में प्रसिद्ध हैं – होम करते हुए याज्ञिक ॐ शब्द से ही अनुकरण की सम्मति देते हैं। और 'ओ श्रावय'

ऐसा कहकर वे प्रतिश्रवण करवाते हैं। सामगायक ॐ शब्द से ही सामगान प्रारम्भ करते हैं। शस्त्र नामक गीतिरहित ऋचाओं का पाठ करने वाले 'ॐ शोम्' शब्द से ही पाठ प्रारम्भ करते हैं। अध्वर्यु याज्ञिक ॐ शब्द का उच्चारण करते हुए ही प्रतिगर याज्ञिक को यज्ञ सम्बन्धी प्रत्येक कर्म के सम्पादन के लिये प्रेरित करता है। ब्रह्मा याज्ञिक ॐ शब्द का उच्चारण करते हुए यजमान को अनुज्ञा देता है और ॐ शब्द से ही वह अग्निहोत्र के सम्पादन की आज्ञा देता है। वेदाध्ययन प्रारम्भ करने से पूर्व ब्राह्मण ॐ शब्द का उच्चारण करते हुए सङ्कल्प करता है कि 'मै ब्रह्म को प्राप्त करूँ।' इस प्रकार ॐ के उच्चारण के साथ सङ्कल्प करके वह निश्चय ही ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।''

जिज्ञासु का नित्यानुशासन

सृष्टि के विभिन्न पक्षों एवं विभिन्न रूपों पर ध्यान केन्द्रित करते हुए सृष्टि के मूलस्रोत ब्रह्म की ध्यान-उपासना का विधान आठवें अनुवाक से पूरा हो जाता है। आगे के तीन अनुवाकों में जिज्ञासु के लिये नित्य अनुसरणीय कर्मों, सतत जप एवं लौकिक उत्तरदायित्वों के समुचित सम्पादन के अनुशासन का विधान किया गया है।

शीक्षावल्ली के नवम अनुवाक में आचार्य जिज्ञासु को विभिन्न श्रौत एवं स्मार्त कर्मों के निष्ठापूर्वक नित्य अनुष्ठान का उपदेश देते हैं। आचार्य का आदेश है कि जिज्ञासु को सब परिस्थितियों में शास्त्र एवं अपने कर्तव्यानुसार बुद्धि से सुनिश्चित किये गये अर्थ का विवेक रखते हुए 'ऋत' का पालन करना चाहिये। इस प्रकार सुनिश्चित किए गये अर्थ का वाक् एवं शरीर से व्यवहार में सम्पादन करते हुए 'सत्य' का पालन करना चाहिये। ब्रह्मविद्या के अनुसन्धान में शरीर को सतत तपाते हुए 'तप' का अनुष्ठान करना चाहिये। बाह्य इन्द्रियों का निग्रह करते हुए 'दम' का और चित्तवृत्तियों का निग्रह करते हुए 'शम' का निर्वाह करना चाहिये। लौकिक अग्नियों का आधान करते हुए 'अग्नि' के अनुशासन का और सदा होम करते हुए 'अग्निहोत्र' का पालन करना चाहिये। घर-द्वार पर आये अतिथियों का सम्मान-सत्कार एवं पूजन करते हुए 'अतिथि' सम्बन्धी अनुशासन का और समुचित लौकिक व्यवहार का अवलम्बन लेकर 'मानुष' सम्बन्धी अनुशासन का निर्वाह करते रहना चाहिये। जिज्ञासु को पुत्र-पुत्रियों को उत्पन्न एवं पोषित कर 'प्रजा' के, समुचित काल में प्रजनन की ओर प्रेरित हो 'प्रजन' के और पौत्र-पौत्रियों के जन्म एवं संरक्षण का प्रबन्ध कर 'प्रजाति' के कर्तव्यों को निभाते रहना चाहिये। इस सब के अतिरिक्त जिज्ञासु को अपनी शाखा से सम्बन्धित विद्या का अनुशासनपूर्वक अनुशीलन करते हुए 'स्वाध्याय' में और उस विद्या का आगे सञ्चार करते हुए 'प्रवचन' में सर्वदा लीन रहना चाहिये।

Centre for Policy Studies www.cpsindia.org

ब्रह्म की प्रथम अभिव्यक्ति : अन्न

जिज्ञासु के लिये अनुसरणीय इस नित्य अनुशासन में स्वाध्याय एवं प्रवचन का वस्तुतः विशेष महत्त्व है। उपरोक्त प्रत्येक कर्म के निर्वाह का उपदेश देते हुए आचार्य जिज्ञासु को स्वाध्याय एवं प्रवचन की अनिवार्यता का स्मरण कराते चले जाते हैं। आचार्य का उपदेश इस प्रकार है – ''ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च शमश्च स्वाध्याये प्रवचने च।...''[१०]

जिज्ञासु के करने योग्य नित्यकर्मों का इस प्रकार निर्देश करने के अनन्तर आचार्य कहते हैं कि ऋषि रथीतर के वंशज सत्यवचा का मानना है कि 'सत्य' ही निर्वाह करने के योग्य है, पुरुशिष्ट के वंशज ऋषि तपोनित्य का मत है कि 'तप' ही नित्य अनुष्ठान करने के योग्य है और मुद्गल के वंशज ऋषि नाक का कहना है कि 'स्वाध्याय' एवं 'प्रवचन' ही नित्य अनुष्ठेय हैं। इस प्रकार पूर्व ऋषियों के मतों का उपदेश करके उपनिषद् के द्रष्टा आचार्य कहते हैं कि वस्तुतः स्वाध्याय एवं प्रवचन ही तप हैं, यही तप हैं।

जिज्ञासु के लिये जपमन्त्र

शीक्षावल्ली के दसवें अनुवाक में आचार्य जिज्ञासु को सतत जप के लिये, मन्त्राम्नाय स्वाध्याय के लिये, एक गूढ मन्त्र का उपदेश देते हैं। यह जप चित्त एवं बुद्धि को शुद्ध कर उसे ब्रह्मज्ञान के ग्रहण के योग्य बनाने के लिये ही है। आचार्य कहते हैं कि सर्वप्रथम ऋषि त्रिशङ्कु ने इस मन्त्र का गायन किया था। त्रिशङ्कु ऋषि का अनुकरण करते हुए और अपने आपको ब्रह्म के साथ एकरूप हुआ अनुभव करते हुए जिज्ञासु अब इस प्रकार जप करता है –

अहं वृक्षस्य रेरिवा। कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव।
ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि। द्रविण᳕सवर्चसम्।
सुमेधा अमृतोक्षितः। इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम्॥[११]

मैं ही इस संसार रूपी वृक्ष का प्रेरक हूँ। मेरी कीर्ति पर्वतशिखर के समान उच्च है। मैं स्वयं ब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ हूँ – पवित्र ब्रह्म ही मेरा कारण है। जिस प्रकार समस्त अन्न का स्रोत सूर्य अमृत का धारक है, वैसे ही मैं भी अमृतमय हूँ। मैं ही देदीप्यमान् सम्पत्ति हूँ, मैं ही शुद्ध मेधा हूँ, मैं अमृत से सिक्त हूँ। यह ऋषि त्रिशङ्कु का वेदानुवचन है।

[१०] तैत्तिरीयोपनिषद् १.९, पृ.६१।
[११] तैत्तिरीयोपनिषद् १.१०, पृ.६५।

स्नातक के प्रति आचर्योपदेश

शीक्षावल्ली के अगले अनुवाक में वेदाध्ययन सम्पन्न कर गृहस्थाश्रम में स्थित हो लौकिक जीवन का निर्वाह करने के योग्य हुए स्नातक ब्रह्मचारी के लिये समुचित अनुशासन का विधान किया गया है। श्रीआदिशङ्कराचार्य इस अनुवाक का प्रयोजन समझाते हुए कहते हैं कि श्रौत एवं स्मार्त लौकिक कर्मों का अनुशासनपूर्वक वहन करते हुए ही जिज्ञासु शुभ संस्कारों को प्राप्त होता है, और संस्कारयुक्त एवं विशुद्धचित्त जिज्ञासु के लिये तो ब्रह्मज्ञान की उपलब्धि सहज ही है, ऐसा जिज्ञासु तो बिना प्रयास के ही ब्रह्मज्ञान को पा जाता है। अतः इस अनुवाक में वर्णित लौकिक जीवन का अनुशासन ब्रह्मज्ञान का ही हेतु है।

उपनिषद् के द्रष्टा आचार्य गुरु के चरणों में वेदाध्ययन सम्पन्न कर लौकिक जीवन में प्रवेश के लिये प्रस्तुत हुए स्नातक ब्रह्मचारी को दिये जाने वाले उपदेश का निर्देश करते हुए कहते हैं –

''वेदाध्ययन सम्पन्न करवाकर आचार्य अन्तेवासी शिष्य से कहता है –

'सत्य बोलो। धर्मानुरूप आचरण करो। स्वाध्याय के प्रति प्रमाद मत करो। आचार्य के लिये समुचित धन एकत्रित करने के पश्चात् सन्तान परम्परा को अविच्छिन्न बनाये रखने का उपक्रम करो, सन्तान परम्परा का छेदन मत करो। सत्य के प्रति प्रमाद न करो। धर्म के प्रति प्रमाद न करो। अपनी कुशलता के प्रति प्रमाद न करो। भूतिकारक शुभ एवं मङ्गल कर्मों के प्रति प्रमाद न करो। स्वाध्याय एवं प्रवचन के प्रति प्रमाद न करो।

'देवों एवं पितरों के निमित्त किये जाने वाले कर्मों के प्रति प्रमाद न करो। माता तुम्हारे लिये देववत् हों। पिता तुम्हारे लिये देववत् हों। आचार्य तुम्हारे लिये देववत् हों। अतिथि तुम्हारे लिये देववत् हों।

'जो कर्म अनिन्द्य माने गये हैं उन्हीं का सेवन करो, अन्यों का नहीं। हम गुरुजनों के जो शुभ चरित हैं तुम उन्हीं की उपासना करो, उन्हीं का श्रद्धापूर्वक आचरण करो, अन्यों का नहीं। हम गुरुजनों से भी श्रेष्ठ जो ब्राह्मण हों, तुम उन्हें आसनादि समर्पण कर उनका पूजन करो।

'श्रद्धापूर्वक दान करो। अश्रद्धापूर्वक, लेने वाले के प्रति हीन भाव रखते हुए, दान मत दो। अपने ऐश्वर्य के अनुरूप दान दो। लज्जापूर्वक, लेने वाले के प्रति विनय का भाव रखते हुए, दान दो। भयपूर्वक, लेने वाले के प्रति सङ्कोच का भाव रखते हुए, दान दो। संविद्पूर्वक, लेने वाले के प्रति मैत्री एवं संवेदना का भाव रखते हुए, दान दो।

'यदि कभी तुम्हारे समक्ष कर्म अथवा आचरण के विषय में संशय उत्पन्न हो तो उस सन्दर्भ

Centre for Policy Studies www.cpsindia.org

में वैसा ही आचरण करो जैसा वहाँ विचारशील, अन्यों के अनुशासन से मुक्त, स्वेच्छा से कर्मयुक्त, सरलमति एवं धर्मकामी ब्राह्मण उस सन्दर्भ में करते हैं।

'जिन पर किसी प्रकार का कोई दोष आरोपित किया गया हो, उनके प्रति तुम वैसा ही व्यवहार करो जैसा कि वहाँ विचारशील, अन्यों के अनुशासन से मुक्त, स्वेच्छा से कर्मयुक्त, सरलमति एवं धर्मकामी ब्राह्मण उन अभियुक्तों के प्रति करते हैं।' ''

स्नातक ब्रह्मचारी को दिये जाने वाले इस विस्तृत एवं विशद उपदेश का उपसंहार करते हुए आचार्य स्पष्ट करते हैं कि यह अनुशासन स्नातक के लिये सर्वदा अनुल्लङ्घनीय है। अनुवाक के अन्त में आचार्य आग्रहपूर्वक कहते हैं –

> एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्।
> एवमुपासितव्यम्। एवमु चैतदुपास्यम्॥[१२]
>
> यही आदेश है। यही मेरा तुम्हारे प्रति उपदेश है। यही वेदों का सार है। यही प्रामाणिक अनुशासन है। इसी की उपासना करो। इसी पर श्रद्धापूर्वक आचरण करो। इसी पर दृढता से आचरण करो।

शान्तिपाठ

शीक्षावल्ली का अन्तिम, द्वादश अनुवाक इस वल्ली में प्राप्त की गयी विद्या के निर्विघ्न संरक्षण के लिये किया गया शान्तिपाठ है। यह पाठ शीक्षावल्ली के प्रारम्भ में किये गये शान्तिपाठ के प्रायः समरूप ही है, केवल पाठ के द्वितीय भाग में 'वदिष्यामि' के स्थान पर 'अवादिषम्' और 'अवतु' के स्थान पर 'आवीत्' क्रियापदों का उपयोग किया गया है। शीक्षावल्ली के प्रारम्भ पर जिज्ञासु वायु को ऋत, सत्य एवं ब्रह्म की संज्ञा देते हुए शीक्षावल्ली के अनुशीलन में उसकी एवं आचार्य की रक्षा करने की प्रार्थना करता है। अब शीक्षावल्ली के निर्विघ्न समापन पर वह उस वायु को, जिसे उसने ऋत, सत्य एवं ब्रह्म कहकर सम्बोधित किया था, उसी वायु को धन्यवाद देता है कि उसने इस कार्य में शिष्य एवं आचार्य दोनों की ही रक्षा की। इस प्रकार शीक्षावल्ली के अनुशीलन से प्राप्त विद्या संरक्षित रहे, इसके संरक्षण में आने वाले त्रिविध ताप शान्त हों।

शीक्षावल्ली का सार

शीक्षावल्ली का उद्देश्य जिज्ञासु को बुद्धि एवं वृत्ति से अपनी जिज्ञासा के योग्य बनाना है। ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिये जिज्ञासु को सब प्रकार से सक्षम बनाने का यह वृहद् अनुष्ठान निश्चय

[१२] तैत्तिरीयोपनिषद् १.११, पृ.७१।

Centre for Policy Studies www.cpsindia.org

ही अत्यन्त सुघड़ता से सम्पादित किया गया है। यहाँ आचार्य जिज्ञासु को सर्वप्रथम शब्दों के सम्यक् बोध के शास्त्र का स्मरण कराते हैं, इस शास्त्र को जाने बिना तो किसी प्रकार का पठन-पाठन सम्भव ही नहीं होता। इसके अनन्तर आचार्य सृष्टि के मूल घटकों को संहिताओं, व्याहृतियों एवं पाङ्क्तों के रूप में जिज्ञासु के समक्ष प्रस्तुत करते हुए उसे इन विभिन्न रूपों में सृष्टि की ध्यान-उपासना करने की शिक्षा देते हैं। और, सृष्टि के आध्यात्मिक एवं आधिभौतिक घटकों को इन विभिन्न रूपों में देखते हुए की गयी प्रत्येक ध्यान-उपासना के उपरान्त आचार्य जिज्ञासु को सृष्टि की सर्वाङ्गीण समग्रता पर ध्यान केन्द्रित करते हुए इस समग्रता के द्योतक ओङ्कार की आराधना का उपदेश देते हैं।

गहन ध्यान-उपासना एवं श्रद्धायुक्त आराधना के इस सुदीर्घ क्रम को सम्पन्न करवाने के पश्चात् आचार्य जिज्ञासु को स्वाध्याय-प्रवचन एवं ऋत,सत्य, शम, और दम आदि के अनुशासन का सतत निर्वाह करने, और निरन्तर एक ऐसे गूढ़ मन्त्र का जप करने का निर्देश देते हैं जिसमें ब्रह्म के साथ एकाकार हुए जिज्ञासु की मनोस्थिति का स्मरण किया गया है। इस सघन अनुशासन का पालन और इस मन्त्र का जप करते हुए जिज्ञासु निश्चय ही ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के अपने लक्ष्य का अपनी बुद्धि एवं वृत्ति में गहनता से समावेश कर लेता है। अन्ततः आचार्य जिज्ञासु को अनुशासित लौकिक जीवन जीते हुए उपयुक्त संस्कारों का सञ्चय करने और स्वाध्याय एवं प्रवचन में रत रहने की शिक्षा देते हैं। इस प्रकार ध्यान-उपासना, आराधना, स्वाध्याय-प्रवचन और संस्कारयुक्त अनुशासित जीवन का अनुशीलन करते हुए जिज्ञासु एक दिन अनायास ही ब्रह्मविद्या की प्राप्ति का अधिकारी हो जाता है।

शीक्षावल्ली में सिखाया गया यह सब अनुशासन ब्रह्मविद्या की प्राप्ति का उपक्रम मात्र है। ब्रह्मविद्या की, ब्रह्म के आनन्दमय स्वरूप तक पहुँचने की प्रक्रिया की शिक्षा तो उपनिषद् की अगली दो वल्लियों, ब्रह्मानन्दवल्ली एवं भृगुवल्ली में ही दी गयी है। वहाँ आचार्य जिज्ञासु को समझाते हैं कि कैसे अव्यक्त सूक्ष्म ब्रह्म सृष्टि की स्थूल से स्थूलतर होती जाती परतों में अपने आप को अभिव्यक्त करते जाते हैं, और कैसे योग्य जिज्ञासु स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ते हुए एक-एक परत को अनावृत करता चला जाता है एवं अन्ततः एकाकी अव्यक्त एवं नितान्त आनन्दरूप ब्रह्म के प्रत्यक्ष दर्शन पा लेता है।

ब्रह्मानन्दवल्ली और भृगुवल्ली में जैसे-जैसे द्रष्टा आचार्य जिज्ञासु शिष्य के लिये ब्रह्मविद्या के गूढ़ से गूढ़तर रहस्यों को प्रकट करते चले जाते हैं, वैसे-वैसे ही अन्न एवं अन्न के विभिन्न रूप आचार्य के उपदेश में महत्तर होते जाते हैं। शीक्षावल्ली में तो अन्न का उल्लेख मात्र दो-तीन स्थानों पर ही आया है। शीक्षावल्ली के पञ्चम अनुवाक में अन्न को महः व्याहृति के रूप में प्रस्तुत किया

Centre for Policy Studies www.cpsindia.org

गया है और महः व्याहृति तो ब्रह्म ही है। उस सन्दर्भ में आचार्य का उपदेश है – मह इत्यन्नम्। अन्नेन वाव सर्वे प्राणा महीयन्ते।[१३] 'अन्न महः व्याहृति है। अन्न से सब जीवों में प्राण का सञ्चार होता है।' इसके अतिरिक्त तीसरे अनुवाक में संहितोपासना का उपदेश देने के अनन्तर हम आचार्य को यह आशीर्वाद देते हुए सुनते हैं कि संहिताओं के रूप में सृष्टि की ध्यान-उपासना करने वाला जिज्ञासु ब्रह्म के सामीप्य से प्राप्त होने वाले यश, उत्तम लोकों, विपुल अन्न, प्रजा एवं पशुओं से सम्पन्न होता है – संधीयते प्रजया पशुभिः। ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन सुवर्गेण लोकेन।[१४] और शीक्षावल्ली के प्रायः अन्त पर, दशम अनुवाक में, आचार्य आदित्य को वाजिनि की संज्ञा देते हैं। 'वाज' अन्न का ही पर्याय है और समस्त अन्न का स्रोत होने से सूर्य वाजिनि कहलाता है। सूर्य के इस अन्नमय स्वरूप का स्मरण करते हुए दशम अनुवाक में जिज्ञासु इस प्रकार जप करता है – ''मैं स्वयं ब्रह्म से उत्पन्न हुआ हूँ। जिस प्रकार समस्त अन्न का स्रोत सूर्य अमृत का धारक है वैसे ही मैं भी अमृतमय हूँ। मैं ही देदीप्यमान सम्पत्ति हूँ, मैं ही शुद्ध मेधा हूँ, मैं अमृत से लिप्त हूँ। ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि। द्रविणꣳसवर्चसम्।''[१५]

शीक्षावल्ली में अन्न का मात्र इतना ही उल्लेख है। परन्तु ब्रह्मानन्दवल्ली और भृगुवल्ली में तो अन्न सब ओर ही व्याप्त दिखायी देता है। ब्रह्मनन्दवल्ली में ब्रह्मविद्या की विभिन्न परतों का अनावरण करते हुए आचार्य सबसे पहले ब्रह्म के अन्नमय कोश की ही व्याख्या करते हैं, और भृगुवल्ली में जिज्ञासु जब साक्षात्कार के मार्ग पर चल निकलता है तो इस मार्ग के द्वार पर उसे अन्न के ही दर्शन होते हैं। और अन्ततः जब द्रष्टा आचार्य का अनुसरण करते हुए जिज्ञासु शिष्य आनन्दस्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है, तो आचार्य और शिष्य दोनों ही अनायास अन्न की स्तुति में भव्य गायन प्रारम्भ कर बैठते हैं। ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर भृगुवल्ली में आचार्य और शिष्य ब्रह्म को अन्नमय ही पाते हैं, अन्न को ही ब्रह्म के स्थान पर बैठाकर अन्न की ही गरिमा एवं अन्न के ही अनुशासन का गायन करते हैं। अन्न की अद्भुत महिमा की इस अद्वितीय अभिव्यक्ति के साथ ही उपनिषद् का उपसंहार होता है।

ब्रह्मविद्या का स्वरूप : ब्रह्मानन्दवल्ली

ब्रह्मानन्दवल्ली का प्रारम्भ भी शीक्षावल्ली की भाँति ही शान्तिपाठ से होता है। इस वल्ली के अपेक्षाकृत सङ्क्षिप्त शान्तिपाठ में द्रष्टा आचार्य एवं दर्शनाभिलाषी शिष्य ब्रह्म से प्रार्थना करते

[१३] तैत्तिरीयोपनिषद् १.५, पृ.४२।
[१४] तैत्तिरीयोपनिषद् १.३, पृ.२८।
[१५] तैत्तिरीयोपनिषद् १.१०, पृ.६५।

Centre for Policy Studies www.cpsindia.org

हैं कि वे दोनों साथ-ही-साथ, आचार्य और शिष्य युगपत्, संरक्षण, जीविका, बल एवं तेज से सम्पन्न हों, उन दोनों में कभी किसी प्रकार का विद्वेष न हो और विद्या प्राप्ति के जिस मार्ग पर वे निकले हैं उस मार्ग में आने वाले सभी प्रतिबन्धों का निवारण हो, सब प्रकार के विघ्न शान्त हों। शान्तिपाठ है –

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥
ॐ शान्तिः ! शान्तिः ! शान्तिः ![१६]

ॐ! वह ब्रह्म हम दोनों की रक्षा करे, हम दोनों का साथ-ही-साथ पोषण करे। हम दोनों साथ-ही-साथ वीर्यवान् हों। हम जिस विद्या का अध्ययन कर रहे हैं, उसमें हम तेजस्वी हों। हम आपस में द्वेष न करें। ॐ! सब प्रकार के विघ्न शान्त हों।

विद्या का फल

शान्तिपाठ के तुरन्त पश्चात् आचार्य जिज्ञासु के सम्मुख उसकी जिज्ञासा के परम ध्येय का चित्रण करते हैं। ब्रह्मविद्या के ज्ञाता को प्राप्त होने वाले फल का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं –

ॐ ब्रह्मविदाप्नोति परम्। तदेषाभ्युक्ता। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति॥[१७]

ॐ! जो ब्रह्मविद्या को जानता है वह परमात्मा को, एकमेव अव्यक्त ब्रह्म को पा लेता है। उस परम ब्रह्म के बारे में कहा जाता है कि वह सत्य है, वह ज्ञान है, और वह अनन्त है, समस्त देश-काल में व्याप्त है। जो उस ब्रह्म को परमाकाश में, शुद्ध बुद्धि के अनन्त विस्तार में और हृदय के मध्य विद्यमान आकाश के अंश में निहित जानता है, वह ब्रह्म के साथ सर्वथा एकरूप हो तुरन्त ही सब भोगों को पा लेता है, उसकी समस्त कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं।

सृष्टिक्रम

ब्रह्मविद्या के फल का निर्देश करने के अनन्तर आचार्य ब्रह्मविद्या का वर्णन आरम्भ करते

[१६] तैत्तिरीयोपनिषद् २.१, पृ.९४।
[१७] तैत्तिरीयोपनिषद् २.१, पृ.९७।

Centre for Policy Studies www.cpsindia.org

हुए सर्वप्रथम अव्यक्त ब्रह्म से व्यक्त सृष्टि की उत्पत्ति के क्रम की व्याख्या करते हैं। द्रष्टा आचार्य कहते हैं –

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः।
अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्।
अन्नात्पुरुषः ॥[१८]

उस ब्रह्म से, जो जिज्ञासु की यह आत्मा भी है, आकाश की उत्पत्ति हुई। आकाश से अग्नि की, अग्नि से जल की, जल से पृथिवी की और पृथिवी से ओषधियों की उत्पत्ति हुई। ओषधियों से अन्न उत्पन्न हुआ और अन्न से पुरुष।

अन्नमय पुरुष

उपरोक्त में आकाश, अग्नि, जल और पृथिवी सृष्टि के मूलतत्व पञ्चमहाभूतों में से ही चार हैं। ओषधियां मूलभूत वनस्पति हैं, उन्हीं से अन्न होता है और अन्न से पुरुष। श्रीआदिशङ्कराचार्य के अनुसार यहाँ पुरुष से शरीरयुक्त व्यक्तिगत जीव ही निर्दिष्ट है। परन्तु क्योंकि यह जीवात्मा परमपुरुष ब्रह्म ही है, उसी का अंश है, इसलिए यहाँ और आगे आने वाले पुरुष शब्द से समस्त सृष्टि में व्याप्त अव्यक्त ब्रह्म का अर्थ भी ग्रहण किया जा सकता है। द्रष्टा आचार्य यहाँ स्पष्ट करते हैं कि जीवशरीर और समस्त सृष्टि में व्याप्त जिस पुरुष का इस सन्दर्भ में निर्देश किया जा रहा है वह सर्वथा अमूर्त नहीं है, वह पुरुष अन्नरसमय है। इसी अन्नरसमय पुरुष का जिज्ञासु को दर्शन करवाना ही इस सन्दर्भ में आचार्य का अभीष्ट है। अतः इस पुरुष की अन्नमयता पर विशेष बल देते हुए आचार्य कहते हैं –

स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। तस्येदमेव शिरः। अयं दक्षिणः पक्षः।
अयमुत्तरः पक्षः। अयमात्मा। इदं पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति ॥[१९]

वह, यह पुरुष अन्नरसमय ही है, वह अन्न एवं अन्न के सारभूत रस से बना है। उस पुरुष का ही यह सिर है, उसका ही यह दक्षिण पक्ष है, यह वाम पक्ष है। उसका ही यह मध्य भाग है और उसका ही यह निम्न भाग है। उसी के विषय में आगे का यह श्लोक कहा गया है।

[१८] तैत्तिरीयोपनिषद् २.१, पृ.९७।
[१९] तैत्तिरीयोपनिषद् २.१, पृ.९७।

उपनिषद् के द्रष्टा आचार्य इतने आग्रह से पुरुष की अन्नमयता का प्रतिपादन करते हुए जिज्ञासु को इस अन्नमय शरीर को ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति के रूप में देखने की शिक्षा देते हैं। इस प्रकार जैसा कि हम पहले सङ्केत करते आये हैं, ब्रह्मविद्या के उपदेश के प्रथम चरण पर ही अन्न का बोध होता है। अव्यक्त ब्रह्म के सृष्टि के विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होने के क्रम को समझते हुए अन्न को ही सर्वप्रथम समझना होता है। आगे आचार्य बताते हैं कि जिस अन्नमय पुरुष का यहाँ वर्णन हुआ है वही प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय भी है। परन्तु यह प्राणमय आदि पुरुष अन्नमय पुरुष में ही समाये हुए हैं, श्रीशङ्कराचार्य के शब्दों में साँचे में ढाले गये पिघले ताँबे की प्रतिमा के समान ये प्राणमयादि पुरुष अन्नमय पुरुष के रूप से ही रूप पाते हैं, अन्नमय पुरुष के रूप से ही इन आगे के पुरुषों की रूपवत्ता की सिद्धि होती है। अतः अन्नमय पुरुष को समझे बिना प्राणमय आदि पुरुषों का बोध सम्भव नहीं हो सकता।

ब्रह्मानन्दवल्ली में आगे, आचार्य मानो धान के कण से तुषा की परतें हटाते हुए-से अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय पुरुष को जिज्ञासु के लिये अनावृत किये चले जाते हैं। परन्तु इन सब पुरुषों के प्रारम्भ पर और अन्य सब को रूप प्रदान करने वाला तो अन्नमय पुरुष ही है। अगले अनुवाक का आरम्भ आचार्य इस अन्नमय पुरुष की महिमा के गायन से ही करते हैं। जैसे कि आचार्य का कथन है, आगे का श्लोक उसी अन्नमय पुरुष के विषय में ही कहा गया है – तदप्येष श्लोको भवति।

अन्न की महिमा

ब्रह्मानन्दवल्ली के द्वितीय अनुवाक का प्रारम्भ करते हुए आचार्य कहते हैं –

अन्नाद्धै प्रजाः प्रजायन्ते। याः काश्च पृथिवीꣳ श्रिताः। अथो अन्नेनैव
जीवन्ति। अथैनदपि यन्त्यन्ततः। अन्नꣳ हि भूतानां ज्येष्ठम्।
तस्मात्सर्वौषधमुच्यते। सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति येऽन्नं ब्रह्मोपासते।
अन्नꣳ हि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वौषधमुच्यते। अन्नाद्भूतानि जायन्ते।
जातान्यन्नेन वर्धन्ते। अद्यतेऽत्ति च भूतानि। तस्मादन्नं तदुच्यत इति॥[२०]

जो भी उत्पन्न होता है वह अन्न से ही उत्पन्न होता है। पृथिवी पर जो कोई भी स्थित है वह अन्न से ही उत्पन्न हुआ है, अन्न का आश्रय लेकर ही जीवित रहता है और अन्ततः अन्न में ही लीन हो जाता है। अन्न ही सब भूतों में ज्येष्ठ है, निश्चय ही अन्न

[२०] तैत्तिरीयोपनिषद् २.२, पृ.१२४।

Centre for Policy Studies www.cpsindia.org

ही सब भूतों में सब से पहले उत्पन्न हुआ है। इसीलिये अन्न को 'सर्वौषध', सब प्राणियों के सब प्रकार के देहसन्ताप को शान्त करने वाला कहा जाता है।

जो अन्न को ब्रह्म मानते हुए श्रद्धापूर्वक उसकी उपासना करते हैं, वे निश्चय ही सब प्रकार के अन्न को प्राप्त कर लेते हैं।

अन्न ही भूतों में ज्येष्ठ है, इसीलिये अन्न को सर्वौषध कहा जाता है। अन्न से ही सब भूतों को जन्म प्राप्त होता है और जन्म लेने के पश्चात् अन्न से ही वे वृद्धि को प्राप्त होते हैं।

सब भूत अन्न को खाते है और अन्न उन सब को खाता है, अन्ततः वे सब अन्न में ही समा जाते हैं। क्योंकि भूत अन्न को खाते हैं, तानि अद्यते, और अन्न भूतों को खाता है, तत् अत्ति, इसीलिये उसे 'अन्न' की संज्ञा दी जाती है।

प्राणमय पुरुष

इस प्रकार सृष्टि के ज्येष्ठ भूत एवं ब्रह्म की प्रथम अभिव्यक्ति अन्नमय पुरुष का परिचय देने के पश्चात् द्रष्टा आचार्य जिज्ञासु को ब्रह्मविद्या के अगले चरण की ओर ले जाते हुए प्राणमय पुरुष का अनावरण करते हैं। आचार्य का उपदेश है –

तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः। तेनैष पूर्णः।
स वा एष पुरुषविध एव ॥[२१]

इस अन्नरसमय पुरुष से भिन्न और उसके अन्दर विद्यमान एक अन्य, प्राणमय पुरुष है। यह अन्नरसमय पुरुष उस प्राणमय पुरुष से परिपूर्ण है। वह प्राणमय पुरुष इस अन्नरसमय पुरुष के समान पुरुषाकार ही है।

प्राणमय पुरुष की अन्नमय पुरुष के साथ एकरूपता का और भी स्पष्टता से निर्देश करते हुए आचार्य आगे कहते हैं कि प्राणमय पुरुष अन्नमय पुरुष के आकार से ही पुरुषाकार पाता है। श्रीआदिशङ्कराचार्य इसी सन्दर्भ में पिघली धातु के साँचे के अनुरूप प्रतिमा में ढलने की उपमा देते हैं – अन्नमय पुरुष को परिपूर्ण कर प्राणमय पुरुष अन्नरसमय पुरुष के साँचे में ढल जाता है, उसी जैसा पुरुषाकार हो जाता है। अन्नमय पुरुष के समान ही इस प्राणमय पुरुष के भी विभिन्न

[२१] तैत्तिरीयोपनिषद् २.२, पृ.१२४।

अङ्ग हो जाते हैं और आचार्य प्राणमय पुरुष के विभिन्न अङ्गों की ओर इङ्गित करते हुए बताते हैं कि कैसे विभिन्न प्रकार की प्राणवायु प्राणमय पुरुष के विभिन्न अङ्गों का रूप लेती है। आचार्य कहते हैं –

> तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्राण एव शिरः। व्यानो दक्षिणः पक्षः। अपान उत्तरः पक्षः। आकाश आत्मा। पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति ॥[२२]
>
> उस अन्नमय पुरुष की पुरुषविधता से ही यह प्राणमय पुरुष पुरुषविध आकार पाता है। उस पुरुषविध प्राणमय पुरुष का सिर प्राणवायु है, दक्षिण पक्ष व्यानवायु है, वामपक्ष अपानवायु है, मध्य शरीर आकाश है और निम्न शरीर पृथिवी है। उस प्राणमय पुरुष के विषय में ही आगे का श्लोक कहा गया है।

मनोमय पुरुष

ब्रह्मानन्दवल्ली के अगले अनुवाक का आरम्भ प्राणमय पुरुष की महिमा के गायन से होता है। आचार्य कहते हैं –

''सृष्टि के विभिन्न घटकों के अभिमानी अग्नि आदि देवता प्राणवायु से ही प्राणन करते हैं, क्रियावान् होते हैं। इसी प्रकार मनुष्य और पशु भी प्राणवायु से ही क्रियावान् होते हैं। प्राण ही भूतों की आयु हैं, प्राणियों का जीवन हैं, इसीलिये प्राणवायु को 'सर्वायुष' कहा जाता है। जो प्राण को ब्रह्म मानकर श्रद्धापूर्वक प्राणब्रह्म की उपासना करते हैं वे पूर्ण आयु से सम्पन्न होते हैं, दीर्घायु को प्राप्त होते हैं। निश्चय ही प्राण से ही प्राणियों का जीवन है। इसीलिये प्राणों को 'सर्वायुष' कहा जाता है।''

इस प्रकार अन्नमय पुरुष के भीतर विद्यमान और अन्नमय पुरुष को जीवन्त एवं क्रियावान् करने वाले प्राणमय पुरुष का उपदेश करने के उपरान्त द्रष्टा आचार्य जिज्ञासु को ब्रह्मविद्या के अगले चरण की ओर ले जाते हुए प्राणमय पुरुष को परिपूर्ण करने वाले मनोमय पुरुष का अनावरण करते हैं।

आचार्य का उपदेश है कि यह प्राणमय पुरुष अन्नमय पुरुष की आत्मा है और प्राणमय पुरुष से भिन्न और उसके भीतर समाया हुआ एक अन्य मनोमय पुरुष है। प्राणमय पुरुष मनोमय पुरुष

---

[२२] तैत्तिरीयोपनिषद् २.२, पृ.१२४।

से परिपूर्ण है। अन्नमय पुरुष एवं प्राणमय पुरुष की भाँति ही इस मनोमय पुरुष के भी पाँच मुख्य अङ्ग हैं – यजुः इस मनोमय पुरुष का सिर है, ऋक् दक्षिण पक्ष है, साम उत्तर पक्ष है, वेदों का ब्राह्मण अंश, जिसे आदेश भी कहा जाता है, इस मनोमय पुरुष का मध्य शरीर है, और ऋषि अथर्वाङ्गिरस से श्रुत अथर्ववेद इसका निम्न शरीर है।

विज्ञानमय पुरुष

ब्रह्मानन्दवल्ली के अगले अनुवाक का प्रारम्भ आचार्य ब्रह्म के सामान्य बोध से परे होने की विशद व्याख्या से करते हैं। आचार्य कहते हैं कि वह ब्रह्म तो ऐसा है कि वाणी और मन, शब्द और चिन्तन, उस तक पहुँचे बिना ही लौट आते हैं। परन्तु जो ऐसे आनन्दस्वरूप ब्रह्म को जान जाता है उसके लिये तो कहीं कोई भय शेष नहीं रह जाता।

चतुर्थ अनुवाक के शेष अंश में आचार्य ब्रह्मविद्या के उपदेश के क्रम को आगे बढ़ाते हुए जिज्ञासु को मनोमय पुरुष के भीतर समाये विज्ञानमय पुरुष का परिचय करवाते हैं। आचार्य कहते हैं कि मनोमय पुरुष प्राणमय पुरुष की आत्मा है और इस मनोमय से भिन्न और इसे परिपूर्ण किये हुए एक अन्य, विज्ञानमय पुरुष है। यह विज्ञानमय पुरुष मनोमय के पुरुषविधाकार से आकार पाता है। पहले कहे गये तीन पुरुषों की भाँति विज्ञानमय पुरुष के भी पाँच मुख्य अङ्ग हैं – श्रद्धा इसका सिर है, ऋत इसका दक्षिण पक्ष है, सत्य इसका उत्तर पक्ष है, योग इस विज्ञानमय पुरुष का मध्य शरीर है और महत् इस का निम्न शरीर है।

विज्ञान, श्रद्धा, ऋत, सत्य, योग एवं महत् भारतीय तत्वदर्शन की मूलभूत अवधारणाओं में से हैं। श्रीआदिशङ्कराचार्य ब्रह्मनन्दवल्ली के इस चतुर्थ अनुवाक की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि वेदों के अर्थ के विषय में ऐसी निश्चयात्मक बुद्धि जो यज्ञादि कर्मों के सम्पादन का हेतु बनती है, वही विज्ञान है। अतः विज्ञान अन्तःकरण का धर्म है और अध्यवसाय ही इस धर्म का प्रमुख लक्षण है। स्वयं श्रीशङ्कराचार्य के शब्दों में– वेदार्थविषया बुद्धिर्निश्चयात्मिका विज्ञानं तच्चाध्यवसायलक्षणमन्तःकरणस्य धर्म।[२३]

श्रीसायणाचार्य एक पूर्ववर्ती अनुवाक पर टीका करते हुए मनोमय एवं विज्ञानमय पुरुष की व्याख्या इस प्रकार करते हैं – तमोमिश्रः सत्त्वगुणो मनोमयकारणम्। अतो मनोमये तामसभागधर्मा रागद्वेषादय उपलभ्यन्ते। रजोमिश्रः सत्त्वगुणो विज्ञानमय कारणम्। अतो विज्ञानमये यज्ञादीनां वैदिकक्रियाणां कृष्यादीनां लौकिकक्रियाणां च कर्तृत्वमुपलभ्यते।[२४]

---

[२३] तैत्तिरीयोपनिषद् २.४ पर श्रीशङ्कराचार्य भाष्य, पृ.१३९।

[२४] तैत्तिरीयोपनिषद् २.४ पर श्रीसायणाचार्य भाष्य, देखिये तैत्तिरीयारण्यक ८.४, पृ.५९९।

अर्थात् तमोमिश्रित सत्त्व गुण से मनोमय पुरुष सम्भव होता है। अतः मनोमय में तामस भाग के विशिष्ट गुण राग-द्वेष आदि पाये जाते हैं। विज्ञानमय कोष रजोमिश्रित सत्त्व गुण से सम्भव होता है। अतः विज्ञानमय पुरुष में यज्ञादि वैदिक क्रियाओं एवं कृषि आदि लौकिक क्रियाओं की उपलब्धि होती है।

विज्ञानमय पुरुष को परिभाषित करते हुए जिन श्रद्धा आदि शब्दों का उपयोग हुआ है उनकी परिभाषा करते हुए श्रीसायणाचार्य कहते हैं कि गुरु एवं शास्त्रों द्वारा सिखाये गये तत्वों में परम विश्वास ही श्रद्धा है – गुरुशास्त्राभ्यामभिहिते तत्त्वे तदवबोधोपाययोश्च परमो विश्वासः श्रद्धा।[२५] श्रीशङ्कराचार्य इसी सन्दर्भ में कहते हैं कि कर्तव्य कर्म के सम्पादन का सङ्कल्प ही श्रद्धा है। ऋत एवं सत्य की व्याख्या श्रीशङ्कराचार्य पहले शीक्षावल्ली के शान्तिपाठ के सन्दर्भ में ही प्रस्तुत करते हैं। वहाँ उनका उपदेश है कि शास्त्र एवं कर्तव्यानुसार बुद्धि में सुनिश्चित किये अर्थ को ऋत कहते हैं और सत्य उस सुनिश्चित अर्थ के वाक् एवं शरीर द्वारा सम्पादन का नाम है – ऋतं यथाशास्त्रं यथाकर्तव्यं बुद्धौ सुपरिनिश्चितमर्थं, एवं, सत्यमिति स एव वाक्कायाभ्यां सम्पाद्यमानः।[२६]

विज्ञानमय पुरुष के अङ्गभूत ऊपर जो 'योग' का निर्देश हुआ है, उसकी व्याख्या करते हुए श्रीसायणाचार्य महर्षि पतञ्जलि के योगसूत्र में उपदिष्ट सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात समाधि का उल्लेख करते हैं। श्रीशङ्कराचार्य इस सन्दर्भ में योग का अर्थ मात्र कर्मसम्पादन बताते हुए कहते हैं – योगो युक्तिः समाधानम्।[२७] श्रीशङ्कराचार्यकृत योग की इस व्याख्या से सहज ही श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण के उपदेश का स्मरण हो आता है। वहाँ श्रीकृष्ण अर्जुन को योग का अर्थ समझाते हुए कहते हैं – योगः कर्मसु कौशलम्[२८], योग कर्म करने का कौशल ही है।

'महत्' तो ब्रह्म से उत्पन्न होने वाला, सांख्य दर्शन में उल्लिखित प्रथम तत्व ही है, उसी 'महत्' से पञ्चमहाभूतों का उद्भव होता है। महत् तत्व ही सृष्टि के समस्त रूपों का प्रथम कारण है, श्रीआदिशङ्कराचार्य महत् को सब प्रकार की बुद्धि एवं सब प्रकार के विज्ञान का कारण बताते हैं। इसीलिये उसे विज्ञानमय पुरुष की प्रतिष्ठा बताया गया है।

अतः श्रीआदिशङ्कराचार्य एवं श्रीसायणाचार्य द्वारा प्रस्तुत विज्ञानमय पुरुष की व्याख्या का सार यह है कि विज्ञान लोक में कर्मसम्पादन करवाने वाली बुद्धि को कहा जाता है और यह

---

[२५] तैत्तिरीयोपनिषद् २.४ पर श्रीसायणाचार्य भाष्य, देखिये तैत्तिरीयारण्यक ८.४, पृ.६०८।
[२६] तैत्तिरीयोपनिषद् १.१ पर श्रीशङ्कराचार्य भाष्य, पृ.२३-२४।
[२७] तैत्तिरीयोपनिषद् २.४ पर श्रीशङ्कराचार्य भाष्य, पृ.१३९-४०।
[२८] श्रीमद्भगवद्गीता २.५०, देखिये महाभारत *भीष्म* २६.५०, पृ.२६०७।

Centre for Policy Studies www.cpsindia.org

कर्मसम्पादन श्रद्धा, ऋत, सत्य, योग एवं महत् के अधीन है। ये पाँचों विज्ञानमय पुरुष, कर्मसम्पादन की ओर उन्मुख पुरुष के अङ्ग हैं। श्रद्धा, ऋत, सत्य, योग एवं महत् से युक्त हुए बिना किसी सम्यक् कर्म का होना सम्भव नहीं। कदाचित् यही ब्रह्मानन्दवल्ली के चतुर्थ अनुवाक का कथ्य है।

आनन्दमय पुरुष

ब्रह्मानन्दवल्ली का पाँचवाँ अनुवाक विज्ञान की महिमा के गायन से प्रारम्भ होता है। आचार्य कहते हैं कि विज्ञान से ही यज्ञों एवं कर्मों का विस्तार होता है, विज्ञानवान् पुरुष ही यज्ञों का अनुष्ठान करता है और वही कर्मों का सम्यक् सम्पादन करता है। इन्द्रादि सभी देवगण विज्ञान को ब्रह्म का प्रथमजात मानते हुए उसकी उपासना करते हैं। अतः जो विज्ञानब्रह्म को जानता है और इस विषय में कोई प्रमाद नहीं करता, वह शरीर के सब पापों से मुक्त हो अपनी सब कामनाओं को तुष्ट कर लेता है, उसकी सब इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं।

पाँचवें अनुवाक को आगे बढ़ाते हुए आचार्य जिज्ञासु को ब्रह्मविद्या के प्रायः अन्तिम चरण पर ले जाकर उसे आनन्दमय पुरुष का उपदेश देते हैं। आचार्य कहते हैं कि विज्ञानमय पुरुष मनोमय पुरुष की आत्मा है और इस विज्ञानमय से भिन्न एक अन्य, आनन्दमय पुरुष है। यह आनन्दमय पुरुष विज्ञानमय पुरुष की आत्मा है। विज्ञानमय पुरुष आनन्दमय पुरुष से परिपूर्ण है और विज्ञानमय पुरुष के पुरुषविध आकार से यह आनन्दमय पुरुष भी पुरुषाकार हो जाता है। पहले उपदेश किये गये पुरुषों की भाँति इस आनन्दमय पुरुष के भी पाँच अङ्ग हैं – प्रिय इसका सिर है, मोद इसका दक्षिण पक्ष है, प्रमोद वाम पक्ष है, आनन्द इसका मध्य शरीर है और ब्रह्म इसका निम्न शरीर है, जिस पर यह प्रतिष्ठित है।

श्रीआदिशङ्कराचार्य इस अनुवाक में आये प्रिय, मोद, प्रमोद आदि शब्दों की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि पुत्रादि इष्ट पदार्थों के दर्शन से उत्पन्न होने वाला हर्ष का भाव 'प्रिय' है, प्रिय पदार्थ की प्राप्ति से उत्पन्न होने वाला हर्ष का भाव 'मोद' कहलाता है, वही हर्ष प्रकृष्ट होने पर 'प्रमोद' कहा जाता है और 'आनन्द' सुख के लिये सामान्य संज्ञा है। प्रिय, मोद, प्रमोद आदि इस सुख के विशिष्ट रूप हैं, ये सब सुख के अवयव हैं, आनन्द इन सबकी आत्मा है, आनन्द में ही हर्ष के सब भावों की प्रतिष्ठा है, और उपनिषद् के अनुसार यह आनन्द स्वयं ब्रह्म ही है।

सृष्टि में अभिव्यक्त ब्रह्म

ब्रह्मानन्दवल्ली के अगले अनुवाक का आरम्भ आनन्दस्वरूप ब्रह्म की महिमा के गायन से ही होता है। अन्नमयं पुरुष, प्राणमय पुरुष, मनोमय पुरुष, विज्ञानमय पुरुष और आनन्दमय

पुरुष का क्रमपूर्वक उपदेश करते हुए और जिज्ञासु को क्रमपूर्वक अन्नमय से आनन्दमय तक ले जाते हुए आचार्य मानो उसे स्वयं ब्रह्म का ही उसकी सर्वाङ्गीण सम्पूर्णता में बोध करवा देते हैं। और अब उस ब्रह्म की स्तुति में आचार्य कहते हैं – असन्नेव स भवति। असद्ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्तिब्रह्मेति चेद्वेद। सन्तमेनं ततो विदुरिति। तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य।[२९] जो ब्रह्म को असत् जानता है वह स्वयं असत् ही हो जाता है और जो ब्रह्म को सत् जानता है वही सत् है, ऐसा विद्वानों का मानना है। यह आनन्दस्वरूप ब्रह्म ही विज्ञानमय पुरुष की शारीर आत्मा है, इसी से वह परिपूर्ण है।

विज्ञानमय पुरुष में समाये हुए आनन्दस्वरूप ब्रह्म के उपदेश के साथ द्रष्टा आचार्य का दर्शनाभिलाषी जिज्ञासु के प्रति ब्रह्मविद्या का उपदेश तो सम्पूर्ण हो जाता है। आचार्य स्वयं ब्रह्म से अभिव्यक्त हुई अन्नमय आदि की विभिन्न परतों को अनावृत करते हुए और जिज्ञासु को एक-एक परत के स्वरूप का उपदेश देते हुए, इस सब के केन्द्र पर विराजमान आनन्दमय ब्रह्म को प्रकाशित करते हैं। अन्नमय आदि की एक-एक परत का साक्षात्कार कर और उससे परे जाकर ही आनन्दस्वरूप ब्रह्म तक पहुँचा जाता है। परन्तु ब्रह्म से अभिव्यक्त विभिन्न पुरुषों की और उन सब के मध्य प्रतिष्ठित एवं सब को परिपूर्ण किये हुए आनन्दमय ब्रह्म की शिक्षा के साथ ब्रह्मविद्या की व्याख्या तो निश्चय ही सम्पन्न हो जाती है। ब्रह्मानन्दवल्ली के छठे अनुवाक के शेष भाग में आचार्य अब जिज्ञासु के मन में उठ रही एक मौलिक शङ्का का निर्देश करते हुए उस शङ्का का निवारण प्रारम्भ करते हैं।

जिज्ञासु की शङ्का है कि जो ब्रह्म को नहीं जानता क्या वह इस लोक से प्रस्थान करने पर ब्रह्म को प्राप्त होता है? और जो ब्रह्म को जानता है क्या वह भी इस लोक से मुक्त होने पर ब्रह्म को प्राप्त हो पाता है या नहीं?

आचार्य जिज्ञासु के इस प्रश्न का सीधा कोई उत्तर नहीं देते। अपितु वे ब्रह्म और उससे व्यक्त हुई सृष्टि के तत्व के विषय में एक दीर्घ प्रवचन प्रारम्भ करते हैं। ब्रह्म एवं सृष्टि के स्वरूप पर यह प्रवचन ब्रह्मानन्दवल्ली के अगले दो अनुवाकों तक चलता है।

आचार्य कहते हैं कि उस एकमेव ब्रह्म ने कामना की कि मैं अनेक हो जाऊँ। इस सङ्कल्प के साथ ब्रह्म ने तप किया। अपने तप से उसने सृष्टि में यह जो सब है उस सब का सृजन किया, और इस सब का सृजन करने के उपरान्त वह स्वयं इसी में ही प्रविष्ट हो गया। इस प्रकार अपने से ही अभिव्यक्त सृष्टि में प्रवेश करके वह व्यक्त एवं अव्यक्त, कथनीय एवं अकथनीय, मूर्त एवं

[२९] तैत्तिरीयोपनिषद् २.५, पृ.१५०।

Centre for Policy Studies www.cpsindia.org

अमूर्त, जड़ एवं चेतन और अनृत एवं सत्य दोनों ही हो गया। ब्रह्म जो सत्य है, वही यह सब हो गया, इसीलिये यह जो सब है उसे ब्रह्मवेत्ता 'सत्य' की ही संज्ञा देते हैं।

ब्रह्म एवं उससे अभिव्यक्त सृष्टि के स्वरूप विषयक इस प्रवचन को आगे बढ़ाते हुए ब्रह्मानन्दवल्ली के सातवें अनुवाक में आचार्य कहते हैं कि पहले यह सब असत् ही था, अव्यक्त ही था। उस असत्, अव्यक्त, से ही यह सत्, व्यक्त जगत्, उत्पन्न हुआ, अव्यक्त ब्रह्म ने स्वयं अपने को ही व्यक्त जगत् का रूप दिया। इसीलिये वह सुकृत, स्वयं अपने से ही सृष्ट, कहलाता है।

आचार्य आगे कहते हैं कि वह सुकृत निश्चय ही रस ही है,वही तृप्ति एवं आनन्द का मूल हेतु है। उस रस को जो पा लेता है वह आनन्दी हो जाता है, आनन्द से परिपूर्ण हो जाता है। यदि यह आनन्द हृदयाकाश में विद्यमान न होता तो प्राणन की क्रिया कौन सम्पन्न करता? कौन जीवनधारक वायु को गतिशील रखता? निश्चय ही वह ब्रह्म, जो सुकृत है, वही सब ओर आनन्द का विस्तार करता है। उसी से प्राण वायु प्रवाहित रहती है।

आगे आचार्य कहते हैं कि जो उस अदृश्य, अशरीर, अकथनीय एवं निराधार ब्रह्म में लीन हो, उसके साथ सर्वथा एकरूपता का बोध कर, अभय की स्थिति को प्राप्त करता है, वह तुरन्त अभय को प्राप्त होता है। जो ब्रह्म के साथ एकरूपता के इस बोध से किञ्चित् भी विचलित होता है, जो अपने और उसमें किञ्चित् भी भेद करता है, वह भय को प्राप्त होता है। आचार्य कहते हैं कि वह ब्रह्म ही भेददर्शी विद्वान् के लिये भयरूप हो जाता है।

ब्रह्मानन्द

अगले अनुवाक का आरम्भ आचार्य भयरूप ब्रह्म की महिमा के गायन से करते हैं। आचार्य कहते हैं कि ब्रह्म के भय से ही वायु गतिमान् रहती है और सूर्य उदित होते हैं, उसके भय से ही अग्नि एवं इन्द्र अपने-अपने कर्म में रत रहते हैं और उसके भय से ही मृत्यु इधर-उधर दौड़ती रहती है।

भयरूप ब्रह्म की इस स्तुति के उपरान्त आचार्य आनन्दरूप ब्रह्म और ब्रह्म के सामीप्य से प्राप्त होने वाले अतुलनीय आनन्द का वर्णन प्रारम्भ करते हैं। आचार्य कहते हैं कि यदि कहीं कोई ऐसा पुरुष है जो नवयुवक हो, साधु स्वभाव का हो, सम्यक् अध्ययन कर अपनी शाखागत विद्या में पारङ्गत हो चुका हो, भविष्य के प्रति आशा से ओत-प्रोत हो, जिस का शरीर सुदृढ एवं बलवान् हो और इस सब के अतिरिक्त जिस युवा पुरुष के लिये यह पृथिवी सम्पूर्ण धन-धान्य और सम्पत्ति से परिपूर्ण हो रही हो, तो ऐसे पुरुष को प्राप्त होने वाले आनन्द को मानुषानन्द

का परिमाण माना जा सकता है। इस मानुषानन्द को शतगुण संवृद्ध करने पर मनुष्यगन्धर्वानन्द, गन्धर्वलोक को प्राप्त हुए मनुष्यों के आनन्द, का एक परिमाण होता है। मनुष्यगन्धर्वानन्द को शतगुण संवृद्ध करने पर देवगन्धर्वानन्द, गन्धर्व लोक में ही जन्म लेने वाले देवतुल्य गन्धर्वों के आनन्द, का एक परिमाण होता है। इस देवगन्धर्वानन्द को शतगुण करने पर चिरलोकों के वासी पितरों के आनन्द का एक परिमाण होता है। चिरलोकवासी पितरों के आनन्द को शतगुण करने पर देवलोक में पैदा होने वाले आजानज देवों के आनन्द का एक परिमाण होता है। आजानज देवों के आनन्द का शतगुण कर्मदेवों के, इहलोक के कर्मों के परिणामस्वरूप देवलोक को प्राप्त होने वाले देवों के, आनन्द का एक परिमाण होता है। कर्मदेवों के आनन्द का शतगुण मनुष्यों के यज्ञों में भाग पाने वाले देवों के आनन्द का एक परिमाण होता है। देवों के आनन्द को शतगुण संवृद्ध करने पर देवों के ईश इन्द्र के आनन्द का एक परिमाण प्राप्त होता है। इन्द्र के आनन्द का शतगुण देवों के आचार्य बृहस्पति का आनन्द होता है, बृहस्पति के आनन्द का शतगुण प्रजापति का आनन्द होता है और प्रजापति के आनन्द का शतगुण करने पर ब्रह्म के आनन्द का एक परिमाण प्राप्त होता है।

ब्रह्मानन्द का ऐसा परिमाण है। ब्रह्मानन्द मनुष्यों, गन्धर्वों, पितरों, देवों और देवों के ईश एवं आचार्य तक के आनन्द को अपने में समेटता हुआ उन सबके आनन्द का बहुगुण अतिक्रमण कर जाता है। आचार्य कहते हैं कि ऐसा ब्रह्मानन्द और उससे लघु अन्य जिन सभी आनन्दों का उल्लेख हुआ है, वे सब-के-सब अकामहत श्रोत्रिय को, सब प्रकार की कामनाओं से मुक्त वेद के अध्येता को, सहज ही प्राप्त हो जाते हैं।

इस प्रकार ब्रह्म के भयावह एवं आनन्दमय रूपों का वर्णन करने के उपरान्त आचार्य जिज्ञासु को पुनः सम्पूर्ण सृष्टि के एकत्व पर ध्यान केन्द्रित करने का उपदेश देते हैं। आचार्य कहते हैं कि वह जो इस पुरुष में है और वह जो उस आदित्य में है वह एक ही है – आध्यात्मिक एवं बाह्य सृष्टि एक ही ब्रह्म से परिपूर्ण है। जो इस एकत्व को जानता है वह इहलोक को लाँघकर अन्नमय आत्मा को प्राप्त होता है, पुनः अन्नमय को लाँघकर प्राणमय आत्मा को प्राप्त होता है, पुनः प्राणमय को लाँघकर मनोमय को प्राप्त होता है, पुनः मनोमय को लाँघकर विज्ञानमय को प्राप्त होता है, पुनः विज्ञानमय को लाँघकर आनन्दमय आत्मा को प्राप्त होता है और अन्ततः वह आनन्दमय आत्मा को भी लाँघकर आगे निकल जाता है।

ब्रह्मानन्दवल्ली के अगले एवं अन्तिम अनुवाक में आचार्य उस विद्वान् जिज्ञासु की मनोस्थिति का वर्णन करते हैं जो आनन्दमय आत्मा तक पहुँचकर उसका भी सङ्क्रमण करते हुए आगे निकल जाता है। इस नवम अनुवाक का आरम्भ करते हुए आचार्य कहते हैं कि वह ब्रह्म

Centre for Policy Studies www.cpsindia.org

ब्रह्म की प्रथम अभिव्यक्ति: अन्न

ऐसा गूढ है कि वाक् और मन उसे पाये बिना ही लौट आते हैं, परन्तु जो ऐसे गूढ ब्रह्म के आनन्द को जानता है वह किसी प्रकार के भय से त्रस्त नहीं होता – यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चनेति।[३०]

आगे आचार्य कहते हैं कि ब्रह्मानन्द को जानने वाले ऐसे विद्वान् को किसी प्रकार की कोई शङ्का सन्तप्त नहीं करती, उसे अपने से कदापि यह नहीं पूछना पड़ता कि मैंने यह शुभ कर्म क्यों नहीं किया अथवा वह पापकर्म क्यों किया। उस विद्वान् के लिये ये दोनों, शुभ एवं अशुभ, पाप एवं पुण्य, एक ही हैं, दोनों आत्मा के, अपने भीतर विद्यमान ब्रह्म के, ही रूप हैं। इस प्रकार जानते हुए वह आत्मा को ही सबल करता है। जो इस प्रकार आनन्दस्वरूप एवं अद्वैत ब्रह्म को जानता है वही विद्वान् है। द्रष्टा आचार्य ब्रह्मानन्दवल्ली का उपसंहार करते हुए आग्रहपूर्वक कहते हैं कि इस प्रकार जानना ही ज्ञान है, यही उपनिषद् है।

साक्षात्कार की ओर: भृगुवल्ली

शीक्षावल्ली में जिज्ञासु को बुद्धि एवं वृत्ति से ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के अनुकूल बनाने के लिये समुचित अध्ययन, ध्यान-उपासना एवं अनुशासन का उपदेश दिया गया है। ब्रह्मानन्दवल्ली में जिज्ञासु को ब्रह्मविद्या के स्वरूप से परिचित करवाने का प्रयास हुआ है। वहाँ ब्रह्मविद्या के गूढतम रहस्यों का अनावरण करते हुए आचार्य जिज्ञासु को उपदेश देते हैं कि कैसे वह एकमेव अव्यक्त ब्रह्म अपने से ही अभिव्यक्त हुई अन्नमय, प्राणमय, मनोमय एवं विज्ञानमय पुरुषों की परतों के भीतर आनन्दमय पुरुष हो निवास करते हुए इस सब को, सृष्टि एवं मानव दोनों को ही, परिपूर्ण किये रहता है। शीक्षावल्ली के अध्ययन, ध्यान-उपासना एवं अनुशासन और ब्रह्मानन्दवल्ली के ब्रह्म के स्वरूप विषयक विशद उपदेश से निकलकर जिज्ञासु निश्चय ही ब्रह्म के प्रत्यक्ष दर्शन, इस सब के भीतर व्याप्त आनन्दस्वरूप एकमेव अव्यक्त ब्रह्म के साक्षात्कार, के योग्य हो जाता है। उपनिषद् की अन्तिम वल्ली में आचार्य ऋषि भृगु के साक्षात्कार के उदाहरण से जिज्ञासु को प्रत्यक्ष दर्शन एवं साक्षात्कार के पथ पर ही ले चलते हैं। यहाँ यह कदाचित् उल्लेखनीय है कि भृगुवल्ली के आरम्भ में साक्षात्कार के इस पथ के द्वार पर खड़ा जिज्ञासु अन्न के ही दर्शन करता है और भृगुवल्ली के अन्त पर आनन्दस्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार करने के उपरान्त वह और आचार्य मिलकर अन्न की महिमा एवं अन्न के अनुल्लङ्घनीय अनुशासन का ही गम्भीर गायन कर उठते हैं।

[३०] तैत्तिरीयोपनिषद् २.९, पृ.२०८।

Centre for Policy Studies www.cpsindia.org

भृगुवल्ली

भृगु का तप और दर्शन

भृगुवल्ली का प्रारम्भ महर्षि भृगु के ब्रह्म के अन्वेषण के प्रति आग्रह से होता है। आचार्य कहते हैं कि एकदा वरुण के पुत्र विख्यात ऋषि भृगु अपने पिता के समक्ष प्रस्तुत होकर उनसे ब्रह्म का बोध करवाने की प्रार्थना करते हैं। पुत्र के इस निवेदन के उत्तर में पिता उसे सर्वप्रथम ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के द्वारभूत छः पदार्थों, अन्न, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन एवं वाक् का स्मरण करवाते हैं। अत्यन्त सङ्क्षिप्तता से उपदेश देते हुए वरुण इन छः द्वारों की ओर मात्र सङ्केत ही करते हैं – अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति।[३१] और इसके उपरान्त वे भृगु को आदेश देते हैं कि वह उसे जानने का सघन प्रयास करे जिससे सब भूत जन्म लेते हैं, जन्म लेकर जिसके माध्यम से वे सब जीवननिर्वाह करते हैं और जीवन पूरा होने पर अन्ततः जिसमें जाकर वे सब लीन हो जाते हैं। वरुण आग्रहपूर्वक भृगु को कहते हैं कि उसी को भली-भाँति जानो, वही ब्रह्म है। वरुण का आदेश है – यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंवशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति।[३२]

पिता के इस आदेश को स्वीकार कर भृगु अपने मन एवं समस्त इन्द्रियों को अपने अन्वेषण के एकमात्र लक्ष्य ब्रह्म पर एकाग्र करते हुए तप में लीन हो जाते हैं और अपने इस तप के सम्पन्न होने पर देखते हैं कि अन्न ही वह ब्रह्म है जिसको जानने का आदेश पिता वरुण ने उन्हें दिया था। भृगु द्वारा अन्नब्रह्म के इस साक्षात्कार का वर्णन करते हुए उपनिषद् के द्रष्टा आचार्य कहते हैं –

> अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
> अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति॥[३३]
>
> उसने जाना कि अन्न ही ब्रह्म है। निश्चय ही अन्न से ही ये सब भूत जन्म लेते हैं, जन्म लेकर वे अन्न से ही जीवित रहते हैं और अन्ततः वे अन्न में ही लीन हो जाते हैं।

इस प्रकार अन्नब्रह्म को जानने के उपरान्त भृगु पुनः पिता वरुण के पास जाते हैं और पुनः उनसे ब्रह्म का बोध करवाने का निवेदन करते हैं। पुत्र के इस निवेदन के उत्तर में वरुण उसे तप से ब्रह्म को जानने का आदेश देते हैं। वरुण आग्रहपूर्वक उसे कहते हैं कि तप ही ब्रह्म है, तप से उसे जानो। पिता का यह आदेश पाकर भृगु पुनः तप में लीन हो जाते हैं और तप के सम्पन्न

[३१] तैत्तिरीयोपनिषद् ३.१, पृ.२१४।
[३२] तैत्तिरीयोपनिषद् ३.१, पृ.२१४।
[३३] तैत्तिरीयोपनिषद् ३.२, पृ.२१८।

Centre for Policy Studies www.cpsindia.org

होने पर वे प्राणों में ब्रह्म के दर्शन करते हैं। भृगु द्वारा प्राणब्रह्म के इस साक्षात्कार का वर्णन करते हुए द्रष्टा आचार्य कहते हैं –

प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्। प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
प्राणेन जातानि जीवन्ति। प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ॥[३४]

उसने जाना कि प्राण ही ब्रह्म हैं। निश्चय ही प्राणों से ही ये सब भूत जन्म लेते हैं, जन्म लेकर वे प्राणों से ही जीवित रहते हैं और अन्ततः वे प्राणों में ही लीन हो जाते हैं।

इस प्रकार प्राणब्रह्म को जानने के पश्चात् भृगु पुनः अपने पिता वरुण के पास जाते हैं, पुनः उनसे ब्रह्म का बोध करवाने की प्रार्थना करते हैं और वरुण उन्हें पुनः तप करने का आदेश देते हैं, क्योंकि जैसा कि वरुण कहते हैं, तप ही ब्रह्म है। पिता का आदेश शिरोधार्य कर भृगु पुनः तप में लीन हो जाते हैं और तप के सम्पन्न होने पर अब उन्हें मन में ही ब्रह्म के दर्शन होते हैं। उन्हें ज्ञात होता है कि मन ही वह ब्रह्म है जिसे जानने का आदेश पिता वरुण ने दिया था। भृगु द्वारा मनोब्रह्म के इस साक्षात्कार का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं –

मनो ब्रह्मेति व्यजानात्। मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
मनसा जातानि जीवन्ति। मनः प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ॥[३५]

उसने जाना कि मन ही ब्रह्म है। मन से ही ये समस्त भूत जन्म लेते हैं, जन्म लेकर वे सब मन से ही जीवित रहते हैं और अन्ततः वे मन में ही लीन हो जाते हैं।

इस प्रकार मनोब्रह्म को जानने के उपरान्त भृगु पुनः पिता वरुण के पास जाते हैं, पुनः ब्रह्म का बोध करवाये जाने विषयक निवेदन करते हैं और पुनः तप में लीन होने का आदेश पाते हैं। अब तप सम्पन्न होने पर भृगु विज्ञान में ही ब्रह्म के दर्शन करते हैं। विज्ञानब्रह्म के इस साक्षात्कार का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं –

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ॥[३६]

---

[३४] तैत्तिरीयोपनिषद् ३.३, पृ.२२०।
[३५] तैत्तिरीयोपनिषद् ३.४, पृ.२२१।
[३६] तैत्तिरीयोपनिषद् ३.५, पृ.२२२।

उसने जाना कि विज्ञान ही ब्रह्म है। विज्ञान से ही ये समस्त भूत जन्म लेते हैं, जन्म लेकर वे विज्ञान से ही जीवित रहते हैं और अन्ततः विज्ञान में ही लीन हो जाते हैं।

इस प्रकार विज्ञानब्रह्म को जानने के उपरान्त भृगु पुनः पिता वरुण के पास जाते हैं और उनका आदेश पाकर वे पुनः तप में लीन हो जाते हैं। अब तप के सम्पन्न होने पर उन्हें अन्ततः आनन्द स्वरूप ब्रह्म के दर्शन होते हैं। भृगु द्वारा आनन्दब्रह्म के इस साक्षात्कार का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं –

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ॥[३७]

उसने जाना कि आनन्द ही ब्रह्म है। आनन्द से ही ये समस्त भूत जन्म लेते हैं, जन्म लेकर वे आनन्द के माध्यम से ही जीवित रहते हैं और अन्ततः वे आनन्द में ही लीन हो जाते हैं।

इस प्रकार भृगु ब्रह्मानन्दवल्ली में सिखायी गयी ब्रह्मविद्या का प्रत्यक्ष अनुभव कर उसे आत्मसात् करते हैं। ब्रह्मानन्दवल्ली में उपनिषद् के द्रष्टा आचार्य बताते हैं कि कैसे अव्यक्त ब्रह्म सृष्टि में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय एवं विज्ञानमय की परतों में अभिव्यक्त होते हुए इन सब को आनन्दमय होकर परिपूर्ण किये रहता है। भृगुवल्ली में अब महर्षि भृगु क्रमपूर्वक अन्नब्रह्म, प्राणब्रह्म, मनोब्रह्म और विज्ञानब्रह्म के प्रत्यक्ष दर्शन करते हुए अन्ततः आनन्दब्रह्म का साक्षात्कार कर लेते हैं।

उस अव्यक्त ब्रह्म के इन विभिन्न व्यक्त रूपों का और इन सब के मध्य विद्यमान अव्यक्त आनन्दब्रह्म का साक्षात्कार कर भृगु अपने अन्वेषण के लक्ष्य तक पहुँच जाते हैं। आनन्दब्रह्म का प्रत्यक्ष दर्शन करते ही उनका अन्वेषण पूर्ण हो जाता है, और अब आचार्य इस प्रकार ब्रह्म के विभिन्न रूपों का साक्षात्कार करते हुए आनन्दब्रह्म तक पहुँचने वाले जिज्ञासु को प्राप्त होने वाले फल का निर्देश करते हैं। आचार्य कहते हैं –

सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता। स य एवं वेद
प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया
पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या ॥[३८]

[३७] तैत्तिरीयोपनिषद् ३.६, पृ.२२३।
[३८] तैत्तिरीयोपनिषद् ३.६, पृ.२२३।

ब्रह्म की प्रथम अभिव्यक्तिः अन्न

यह भार्गवी-वारुणी विद्या है, वरुण ने इसका उपदेश किया है और भृगु ने इस विद्या का प्रत्यक्ष अनुभव किया है, इसे जाना है। यह भार्गवी-वारुणी विद्या परमाकाश में स्थित है, सम्पूर्ण सृष्टि को और हृदय के मध्य विद्यमान आकाश को परिपूर्ण किये हुए है। जो इस विद्या को जान लेता है वह ब्रह्म में प्रतिष्ठित हो जाता है। वह अन्नवान् और अन्न का भोक्ता होता है। वह प्रजा एवं पशुओं से और ब्रह्म के सामीप्य से प्राप्त होने वाले तेज से सम्पन्न हो महान् हो जाता है। अपने यश एवं कीर्ति से वह निश्चय ही महत्ता को प्राप्त होता है।

अन्नब्रह्म का अनुशासन

भृगु के अन्वेषण की पूर्ति के साथ ही उपनिषद् का ब्रह्मविद्या विषयक उपदेश भी प्रायः पूर्ण हो जाता है। उपनिषद् के द्रष्टा आचार्य ने शीक्षावल्ली में जिज्ञासु को बुद्धि एवं वृत्ति से ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के योग्य बनने के लिये उपयुक्त अध्ययन, ध्यान-उपासना एवं अनुशासन का पाठ पढ़ाने और ब्रह्मानन्दवल्ली में उसे ब्रह्मविद्या के स्वरूप का विशद परिचय करवाने के पश्चात् अब भृगुवल्ली के प्रथम छः अनुवाकों में भृगु द्वारा आनन्दब्रह्म के साक्षात्कार का वर्णन करते हुए जिज्ञासु के लिये साक्षात्कार का पथ प्रशस्त कर दिया है। ब्रह्मविद्या के किसी रहस्य का अनावरण करना अब शेष नहीं रहा।

उपनिषद् के अन्तिम चार अनुवाकों में आचार्य अन्न के अनुशासन एवं अन्न की ध्यान-उपासना से सम्बन्धित एक नये और वृहद् उपदेश का समारम्भ करते हैं। इन चार अनुवाकों में आचार्य जिज्ञासु को समझाते हैं कि कैसे अन्न की कभी निन्दा नहीं करनी चाहिये, कैसे अन्न के प्रति कदापि उपेक्षा का भाव नहीं रखना चाहिये, कैसे सतत अन्नबाहुल्य के प्रयास में लगे रहना चाहिये और कैसे घर-द्वार पर आये किसी याचक को अन्न से तृप्त किये बिना कदापि लौटाना नहीं चाहिये। अन्न के इस गहन अनुशासन के साथ ही वे जिज्ञासु को सृष्टि के विभिन्न घटकों को अन्न की अभिव्यक्ति के रूप में देखते हुए अन्नब्रह्म की ध्यान-उपासना करने की शिक्षा देते हैं। और अन्ततः अन्न के साथ एकरूप हुए जिज्ञासु के आनन्दविभोर हो 'अहमन्नम्' के गायन से आचार्य उपनिषद् का उपसंहार करते हैं।

अन्न के अनुशासन एवं अन्न की ध्यान-उपासना का यह उपदेश ऐसे जिज्ञासु को दिया जा रहा है जो शीक्षावल्ली के अध्ययन, ध्यान-उपासना एवं अनुशासित जीवन के उपदेश को आत्मसात् कर चुका है, जो ब्रह्मानन्दवल्ली में ब्रह्मविद्या के स्वरूप से परिचित हो चुका है और

जिसे भृगुवल्ली में ब्रह्म के साक्षात्कार का पथ दिखाया जा चुका है। उपनिषद् के इस सुदीर्घ उपदेश को ग्रहण करते हुए और ब्रह्मविद्या के इस प्रशस्त मार्ग पर द्रष्टा आचार्य का अनुसरण करते हुए जिज्ञासु यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते कदाचित् स्वयं आनन्दब्रह्म के प्रत्यक्ष दर्शन कर स्वयं द्रष्टा बन चुका है। ऐसे कृतार्थ जिज्ञासु को अब उपनिषद् के प्रायः उपसंहार पर अन्न के अनुशासन एवं अन्नब्रह्म की ध्यान-उपासना का यह सघन उपदेश दिया जा रहा है।

श्रीआदिशङ्कराचार्य उपनिषद् के इस प्रकरण पर टीका करते हुए कहते हैं कि अन्न के अनुशासन एवं ध्यान-उपासना का यह उपदेश इसलिये आरम्भ किया जा रहा है क्योंकि अन्न ब्रह्म की प्राप्ति का द्वार है, अन्न के द्वारा ही ब्रह्म को जाना जाता है – किं चान्नेन द्वारभूतेन ब्रह्म विज्ञातं,[३९] और श्रीसायणाचार्य इस सन्दर्भ में प्रायः इन्हीं शब्दों का उपयोग करते हुए कहते हैं – यस्मादन्नेन द्वारभूतेनोपासितेन ब्रह्मज्ञानं लभते।[४०]

अन्नं न निन्द्यात्

भृगुवल्ली के सप्तम अनुवाक से अन्नानुशासन एवं अन्नोपासना का आरम्भ करते हुए आचार्य आदेश देते हैं कि अन्न की कदापि निन्दा न करो, यह व्रत है, इस व्रत का कभी उल्लङ्घन मत करो। और तदुपरान्त वे अन्न को शरीर एवं शरीर में विद्यमान प्राण दोनों के ही मूल कारण के रूप में देखते हुए अन्न की ध्यान-उपासना की शिक्षा देते हैं। आचार्य कहते हैं –

> अन्नं न निन्द्यात्। तद्व्रतम्। प्राणो वा अन्नम्। शरीरमन्नादम्। प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम्। शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान्कीर्त्या ॥[४१]
>
> अन्न की निन्दा न करो। यह व्रत है, ब्रह्मवेत्ता के लिये यह अनुल्लङ्घनीय अनुशासन है। प्राण निश्चय ही अन्न हैं, और शरीर प्राणरूपी अन्न का भोक्ता है। प्राण शरीर में प्रतिष्ठित हैं और शरीर प्राण में प्रतिष्ठित है। इस प्रकार परस्पर आश्रित होते हुए शरीर एवं प्राण दोनों परस्पर एक दूसरे के लिये अन्न ही हैं, अतः यहाँ अन्न ही अन्न में प्रतिष्ठित है। जो इस प्रकार अन्न को अन्न में ही प्रतिष्ठित हुआ जानता है वह स्वयं प्रतिष्ठित होता है। वह अन्नवान् होता है, पर्याप्त मात्रा में अन्न प्राप्त करता है, और

[३९] तैत्तिरीयोपनिषद् ३.७ पर श्रीशङ्कराचार्य भाष्य, पृ.२२६।
[४०] तैत्तिरीयोपनिषद् ३.७ पर श्रीसायणाचार्य भाष्य, देखिये तैत्तिरीयारण्यक ९.७, पृ.६८०।
[४१] तैत्तिरीयोपनिषद् ३.७, पृ.२२६।

अन्नाद होता है, अन्न का भोक्ता बनता है। वह महत्ता को प्राप्त होता है, प्रजा, पशु एवं ब्रह्म के सामीप्य से प्राप्त होने वाला तेज उसे महान् बनाते हैं। अपने यश एवं कीर्ति से वह निश्चय ही महत्ता को प्राप्त होता है।

अन्नं न परिचक्षीत

भृगुवल्ली के अगले, अष्टम अनुवाक में आचार्य ऊपर प्रारम्भ किये गये अन्नानुशासन को आगे बढ़ाते हुए आदेश देते हैं कि अन्न की कदापि उपेक्षा न करो, यह व्रत है, इसका कभी उल्लङ्घन मत करो। तदुपरान्त वे सृष्टि के मूल तत्वों के रूप में व्याप्त जल एवं अग्नि को अन्न ही की अभिव्यक्ति समझते हुए अन्न की ध्यान-उपासना की शिक्षा देते हैं। आचार्य का उपदेश है–

अन्नं न परिचक्षीत। तद्व्रतम्। आपो वा अन्नम्। ज्योतिरन्नादम्। अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम्। ज्योतिष्यापः प्रतिष्ठिताः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान्कीर्त्या ॥[४२]

अन्न की उपेक्षा न करो। यह व्रत है, ब्रह्मवेत्ता के लिये यह अनुल्लङ्घनीय अनुशासन है। जल ही अन्न है और ज्योति अर्थात् अग्नि, इस अन्न की भोक्ता है। ज्योति जल में प्रतिष्ठित है और जल ज्योति में प्रतिष्ठित है। इस प्रकार परस्पर आश्रित होते हुए जल एवं ज्योति दोनों परस्पर एक दूसरे के लिये अन्न ही हैं, अतः यहाँ अन्न ही अन्न में प्रतिष्ठित है। जो इस प्रकार अन्न को अन्न में ही प्रतिष्ठित हुआ जानता है वह स्वयं प्रतिष्ठित होता है। वह अन्नवान् होता है, पर्याप्त मात्रा में अन्न प्राप्त करता है, और अन्नाद होता है, अन्न का भोक्ता बनता है। वह महत्ता को प्राप्त होता है, प्रजा, पशु एवं ब्रह्म के सामीप्य से प्राप्त होने वाला तेज उसे महान् बनाते हैं। अपने यश एवं कीर्ति से वह निश्चय ही महत्ता को प्राप्त होता है।

अन्नं बहु कुर्वीत

भृगुवल्ली के नवम अनुवाक का आरम्भ करते हुए आचार्य आदेश देते हैं कि जिज्ञासु एवं ब्रह्मवेत्ता को सब ओर अन्नबाहुल्य का ही प्रसार करना चाहिये, यह व्रत है, इस अनुशासन का कभी उल्लङ्घन नहीं होना चाहिये। और इसके उपरान्त आचार्य सृष्टि के मूलतत्व पृथिवी एवं

[४२] तैत्तिरीयोपनिषद् ३.८, पृ.२२८।

आकाश को अन्न की ही आभिव्यक्तियों के रूप में देखते हुए अन्न की ध्यान-उपासना करने की शिक्षा देते हैं। आचार्य कहते हैं –

> अन्नं बहु कुर्वीत। तद्व्रतम्। पृथिवी वा अन्नम्। आकाशोऽन्नादः। पृथिव्यामाकाशः प्रतिष्ठितः। आकाशे पृथिवी प्रतिष्ठिता। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान्भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान्कीर्त्या ॥[४३]
>
> अन्नबाहुल्य करो। यह व्रत है, ब्रह्मवेत्ता के लिये यह अनुल्लङ्घनीय अनुशासन है। पृथिवी ही अन्न है और आकाश इस अन्न का भोक्ता है। आकाश पृथिवी में प्रतिष्ठित है और पृथिवी आकाश में प्रतिष्ठित है। इस प्रकार परस्पर एक दूसरे पर आश्रित होते हुए पृथिवी एवं आकाश दोनों परस्पर एक दूसरे के लिये अन्न ही हैं, जो इस प्रकार अन्न को अन्न में ही प्रतिष्ठित हुआ जानता है वह स्वयं प्रतिष्ठित होता है। वह अन्नवान् होता है, पर्याप्त मात्रा में अन्न प्राप्त करता है और अन्नाद होता है, अन्न का भोक्ता बनता है। वह महत्ता को प्राप्त होता है, प्रजा, पशु एवं ब्रह्म के सामीप्य से प्राप्त होने वाला तेज उसे महान् बनाते हैं। अपने यश एवं कीर्ति से वह निश्चय ही महत्ता को प्राप्त होता है।

न कञ्चन वसतौ प्रत्याचक्षीत

उपनिषद् के अगले एवं अन्तिम अनुवाक में अन्न की महिमा, घर-द्वार पर आने वाले प्रत्येक याचक को अन्न से तृप्त करने के अनुल्लङ्घनीय अनुशासन और इस अनुशासन का पालन करने एवं सृष्टि के मूल कारण अन्नब्रह्म को जानने वाले को प्राप्त होने वाले अतुलनीय आनन्द का विशद गायन हुआ है। यह अनुवाक अन्न की महिमा एवं अन्नानुशासन के प्रति श्रद्धा के भाव से ऐसा परिपूर्ण है कि पूर्ववर्ती अध्यायों में इस अनुवाक का सन्दर्भ और इसमें से कतिपय उद्धरण सहज ही आ गये हैं।

भृगुवल्ली के इस दशम अनुवाक का आरम्भ करते हुए आचार्य आदेश देते हैं कि घर-द्वार पर आये किसी याचक को अन्न से तृप्त किये बिना न लौटाया जाये, यह व्रत है, ब्रह्मवेत्ता एवं जिज्ञासु के लिये यह अनुल्लङ्घनीय अनुशासन है। और इस अनुशासन के प्रतिपादन के उपरान्त आचार्य कहते हैं कि इस अनुशासन का सतत पालन करने के लिये अपनी समस्त शक्ति एवं क्षमता

[४३] तैत्तिरीयोपनिषद् ३.९, पृ.२२९।

का उपयोग करते हुए सर्वदा बहुमात्रा में अन्न प्राप्त कर बहुमात्रा में अन्नपाक करते रहना चाहिये। आचार्य का उपदेश है –

> न कंचन वसतौ प्रत्याचक्षीत। तद्व्रतम्। तस्माद्यया कया च विधया बह्वन्नं प्राप्नुयात्। आराध्यस्मा अन्नमित्याचक्षते। एतद्वै मुखतोऽन्नꣳ राद्धम्। मुखतोऽस्मा अन्नꣳ राध्यते। एतद्वै मध्यतोऽन्नꣳ राद्धम्। मध्यतोऽस्मा अन्नꣳ राध्यते। एतद्वा अन्ततोऽन्नꣳ राद्धम्। अन्ततोऽस्मा अन्नꣳ राध्यते॥[४४]
>
> घर-द्वार पर आये किसी याचक को अन्न से तृप्त किये बिना और समुचित आतिथ्य से सत्कृत किये बिना न लौटायें। यह व्रत है, ब्रह्मवेत्ता एवं जिज्ञासु के लिये यह अनुल्लङ्घनीय अनुशासन है। अतः किसी-न-किसी विधि से प्रचुर अन्न प्राप्त करें और बहुमात्रा में अन्नपाक कर घोषणा करें कि प्रचुर अन्न प्रस्तुत है, सब आयें और इस अन्न का उपभोग करें।
>
> क्योंकि जो प्रचुर मात्रा में अन्न पकाकर ऊँचे सम्मान-सत्कार के साथ प्रचुर अन्नदान करता है, उसे वैसे ही ऊँचे सत्कार के साथ प्रचुर अन्न प्राप्त होता है। जो मध्यम मात्रा में अन्न पकाकर मध्यम सम्मान-सत्कार के साथ मध्यम मात्रा में अन्नदान करता है, उसे वैसे ही मध्यम सम्मान-सत्कार के साथ मध्यम मात्रा में अन्न प्राप्त होता है। और जो हीन मात्रा में अन्न पकाकर, अवहेलना के भाव से किञ्चित् मात्रा में ही अन्नदान करता है, उसे वैसी ही अवहेलना के साथ किञ्चित् अन्न प्राप्त हो जाता है।

ब्रह्मोपासना

अन्न के अनुशासन एवं अन्नब्रह्म की ध्यान-उपासना के इस गहन उपदेश का उपसंहार करते हुए आचार्य जिज्ञासु को ब्रह्म की विभिन्न अभिव्यक्तियों का एकदा पुनः स्मरण करते हुए श्रद्धापूर्वक इस सब के मूल कारण उस एकमेव ब्रह्म की उपासना करने की शिक्षा देते हैं। उपनिषद् की इस अन्तिम ध्यान-उपासना में जिज्ञासु का मार्गदर्शन करते हुए आचार्य कहते हैं –

> य एवं वेद। क्षेम इति वाचि। योगक्षेम इति प्राणापानयोः। कर्मेति हस्तयोः। गतिरिति पादयोः। विमुक्तिरिति पायौ। इति मानुषीः समाज्ञाः। अथ दैवीः। तृप्तिरिति वृष्टौ। बलमिति विद्युति॥

[४४] तैत्तिरीयोपनिषद् ३.१०, पृ.२३०।

यश इति पशुषु। ज्योतिरिति नक्षत्रेषु। प्रजातिरमृतमानन्द इत्युपस्थे। सर्वमित्याकाशे। तत्प्रतिष्ठेत्युपासीत। प्रतिष्ठावान् भवति। तन्मह इत्युपासीत। महान् भवति। तन्मन इत्युपासीत। मानवान् भवति॥

तन्नम इत्युपासीत। नम्यन्तेऽस्मै कामाः। तद्ब्रह्मेत्युपासीत। ब्रह्मवान् भवति। तद्ब्रह्मणः परिमर इत्युपासीत। पर्येणं म्रियन्ते द्विषन्तः सपत्नाः। परि येऽप्रिया भ्रातृव्याः। स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः॥[४५]

जो अन्न के इस माहात्म्य और अनुशासन को जानता है वह अपने लक्ष्य को पा लेता है। ऐसा विद्वान् ब्रह्म की ध्यान-उपासना में लीन हो अनुभव करता है कि –

वह ब्रह्म वाणी में क्षेम के रूप में विद्यमान् है, प्राप्त की गयी धन-सम्पत्ति का संरक्षण उसी के अधीन है। वह प्राण और अपान वायु में योगक्षेम के रूप में विद्यमान् है, उसी से सब वस्तुओं की प्राप्ति और उनका संरक्षण होता है। वह हाथों में कर्म के रूप में स्थित है, उसी के करने से सब कार्य होते हैं। वह पाँवों में गति के रूप में स्थित है, उसी से सब प्राणियों में गति का सञ्चार होता है। और वह मलोत्सर्जन सम्बन्धी अङ्गों में उत्सर्जन की वृत्ति के रूप में विद्यमान् है, उसी से सब जीव निवृत्ति को प्राप्त होते हैं।

यह मानवीय शरीर में विद्यमान ब्रह्म की उपासना है। अब आगे दैविक तत्वों में विद्यमान् ब्रह्म की उपासना कही जाती है –

वह ब्रह्म वृष्टि में तृप्ति के रूप में विद्यमान् है, उस के होने से ही वर्षा पृथिवी पर तृप्ति का सञ्चार करती है। वह विद्युत् में ऊर्जा के रूप में स्थित है, उसी से विद्युत् ऊर्जावान् है। पशुओं का यश और नक्षत्रों की ज्योति उसी की उपस्थिति से है। वह ब्रह्म ही जननेन्द्रियों में प्रजनन, अमरत्व एवं आनन्द की वृत्ति के रूप में विद्यमान् है, उसी के होने से प्राणी प्रजनन की ओर प्रवृत्त हो अमरत्व एवं आनन्द को प्राप्त होते हैं। और, वही आकाश में इस सब के रूप में स्थित है, यह जो सब है वह उसी से है, उसी का रूप है।

उस ब्रह्म की इस सब की प्रतिष्ठा के रूप में, सब के आश्रय स्थान के रूप में, श्रद्धापूर्वक

[४५] तैत्तिरीयोपनिषद् ३.१०, पृ.२३०-३१।

Centre for Policy Studies www.cpsindia.org

उपासना करने वाला स्वयं प्रतिष्ठित होता है, ब्रह्म में अचल आश्रय को प्राप्त होता है। उस ब्रह्म की महः व्याहृति के रूप में उपासना करने वाला महत्त्व को प्राप्त होता है, महान् बनता है। उस ब्रह्म की मन के रूप में, चिन्तन-मनन के स्रोत के रूप में, उपासना करने वाला मनन की क्षमता से सम्पन्न होता है। उस ब्रह्म की नमः के रूप में, विनम्रता के स्रोत के रूप में, उपासना करने वाले के समक्ष समस्त काम्य पदार्थ विनम्र हो प्रस्तुत होते हैं। उस ब्रह्म की ब्रह्म के रूप में उपासना करने वाला ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है, ब्रह्मवान् हो जाता है। उस ब्रह्म की ब्रह्म के परिमर के रूप में उपासना करने वाले के, ब्रह्म ब्रह्म में ही लीन हो जाता है इस भाव से ब्रह्म की उपासना करने वाले के, सब द्वेषी काल में लीन हो जाते हैं, उसका अप्रिय चाहने वाले सब भ्रातृव्य काल के प्रवाह में बह जाते हैं।

वह जो इस पुरुष में है और वह जो उस आदित्य में है वह एक ही है। आध्यात्मिक शरीर एवं आधिभौतिक सृष्टि को परिपूर्ण किये रहने वाला वह ब्रह्म एक ही है।

अहमन्नम्

उस एक ब्रह्म की इस गूढ ध्यान-उपासना का उपदेश करने के उपरान्त आचार्य इस ध्यान-उपासना में श्रद्धापूर्वक रत उपासक को प्राप्त होने वाले फल का निर्देश करते हैं। और यही फल कदाचित् उस जिज्ञासु का भी प्राप्य है जो उपनिषद् में प्रतिपादित अध्ययन, अनुशासन, उपासना, बोध एवं प्रत्यक्ष दर्शन के इस दीर्घ क्रम को सम्पन्न करते हुए यहाँ तक आ पहुँचता है। ब्रह्म के उपासक ऐसे कृतार्थ जिज्ञासु के फल का निर्देश करते हुए आचार्य कहते हैं –

स य एवंवित्। अस्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य।
एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य।
एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य।
इमाँल्लोकान्कामान्नी काम्रूप्यनुसंचरन्। एतत्साम गायन्नास्ते।
हा३वु हा३वु हा३वु॥[४६]

वह जो ब्रह्म को इस प्रकार जान लेता है, वह इस लोक को लाँघकर क्रम से अन्नमय,

[४६] तैत्तिरीयोपनिषद् ३.१०, पृ.२४१।

प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय आत्मा को प्राप्त होता हुआ, क्रम से उन सबको लाँघता चला जाता है। इन सभी विभिन्न पुरुषों को जानकर और उनका अतिक्रमण कर वह कामान्नी, इच्छानुसार अन्न को भोगने वाला, और कामरूप, इच्छानुसार रूप धारण करने वाला, हो जाता है। इस प्रकार समस्त भोगों एवं समस्त रूपों का धारक बन वह इन सब लोकों में विचरता हुआ इस साम का गायन करता है – हा३वु हा३वु हा३वु ।

और अब उपनिषद् के अन्तिम छन्द में आचार्य उस सामगान के विषय में बतलाते हैं जिसका गायन करते हुए वह कृतार्थ हुआ जिज्ञासु विभिन्न लोकों में विचरण करता है। यह उस जिज्ञासु का गायन है जो उपनिषद् में निर्दिष्ट ब्रह्मविद्या के इस महान् उपदेश को आत्मसात् कर चुका है और जो विभिन्न लोकों और विभिन्न पुरुषों में अभिव्यक्त ब्रह्म का दर्शन कर उन सब लोकों और पुरुषों से परे जा चुका है। ऐसा कृतकृत्य जिज्ञासु अब जिस सामगान का गायन करता है वह वस्तुतः उस सूक्त के समान ही है जिसका गायन इस अध्याय के प्रारम्भ पर हम अन्न के अभिमानी अन्नदेवता के मुख से सुन चुके हैं। अन्नदेवता का वह सूक्त तैतिरीय ब्राह्मण का अङ्ग है। अब तैत्तिरीयोपनिषद् में उपनिषद् के उपदेश के चरम पर पहुँचा हुआ जिज्ञासु प्रायः उसी सूक्त को दोहराते हुए गाता है –

अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादो३ऽहमन्नादो३ऽहमन्नादः।
अह९ श्लोककृदह९ श्लोककृदह९ श्लोककृत्। अहमस्मि प्रथमजा ऋता३स्य।
पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य ना३भायि। यो मा ददाति स इदेव मा३वाः।
अहमन्नमन्नमदन्तमा३द्मि। अहं विश्वं भुवनमभ्यभवा३म्। सुवर्न ज्योतीः
य एवं वेद। इत्युपनिषत्॥[४७]

मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ, मैं ही अन्न हूँ। मैं अन्नाद हूँ, मैं ही अन्न का भोक्ता हूँ, मैं ही भोक्ता हूँ, मैं ही भोक्ता हूँ। मैं श्लोककृत् हूँ, मैं अन्न एवं अन्न के भोक्ता को एक साथ लाता हूँ, मैं ही उन्हें साथ लाता हूँ, मैं ही उन्हें साथ लाता हूँ।

मैं यज्ञ का प्रथम जनयिता हूँ, सर्वप्रथम यज्ञ मुझसे ही उत्पन्न होता है। मैं ही सृष्टि के पूर्वकाल में देवों के लिये अमृत का स्रोत बनता हूँ, देवों के लिये अमृत का सम्पादन मुझसे ही होता है।

[४७] तैत्तिरीयोपनिषद् ३.१०, पृ.२४५।

Centre for Policy Studies www.cpsindia.org

जो मुझे दान करता है वही वास्तव में मुझे प्राप्त करता है। जो मुझे अन्यों को दिये बिना स्वयं मेरा उपभोग करता है उसका मैं विनाश कर देता हूँ। मैं अन्न हूँ, अन्नदान न करने वालों को मैं खा जाता हूँ।

मैं इस सम्पूर्ण भुवन का पराभव करता हूँ, मेरे में ही यह विश्व प्रलय को प्राप्त होता है। मेरी ज्योति सूर्य के समान प्रकाशमान है।

जो यह जानता है वह अपने लक्ष्य को पा जाता है। यही उपनिषद् है।

इस प्रकार तैत्तिरीयोपनिषद् के द्रष्टा आचार्य का अनुसरण करते हुए ब्रह्मविद्या के इस वृहद् अनुसन्धान को सम्पन्न कर अपने लक्ष्य पर पहुँचने वाला जिज्ञासु अन्न के साथ एकरूप हो जाता है। क्योंकि अन्न ब्रह्म ही है। वस्तुतः अन्न ब्रह्म ही है।

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः।
शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे । नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि।
त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम् । ऋतमवादिषम्। सत्यमवादिषम्।
तन्मामावीत्। तद्वक्तारमावीत्। आवीन्माम्। आवीद्वक्तारम्॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः! शान्तिः!